Chap-5

पंचम अध्याय

साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग

क. छठे दशक के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग ।

ख. सातवें दशक के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग ।

ग. आठवें दशक के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग ।

घ. नवें एवं दसवें दशक के नाटकों में
रंगमंचीय प्रयोग ।

छठे दशक के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग

छठे दशक में नाटकों के लिये रंगमंच की भूमिका का विशेष ध्यान रखा गया है। भारतेन्दु एवं प्रसाद के नाटकों के बाद सन् 1950 के बाद नाट्य रचना रंगमंचीय दृष्टि को आधार बनाकर ही लिखी जाने लगी। यद्यपि सन् 1960 तक हमारे पास केवल कुछ ही नाटक रहे लेकिन उनकी मंचीय सफलता ने हिन्दी में रंगमंचीय नाट्य लेखन और प्रस्तुतिकरण का सिलसिला प्रारंभ कर दिया।

कोणार्क (1951) से रंगमंचीय नाटकों की जो शुरुआत हुई वहाँ से भिन्न-भिन्न तरीके से कथ्य, शैली, शिल्प, रंगमंचीयता, निर्देशक व दर्शक आदि के नजरिये को तोल-परख कर हिन्दी नाटक अपने लिये नये रंगमंच की तलाश में जुट गया। इसमें सबसे अग्रणी रहे मोहन राकेश।

अपने पहले ही नाटक में मोहन राकेश संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार कालिदास को पात्र के रूप में इतिहास से आधुनिक रूप में ले आते हैं। यह बात महत्वपूर्ण न भी हो, तो भी मोहन राकेश संस्कृत नाट्य की सूत्रधार की अवधारणा को एक नया आधुनिक अर्थ देकर, उसे आधुनिक मनुष्य का जामा पहनाकर एक नया सूत्रधार बना देते हैं। जैसा कि आधे-अधूरे में काले सूट वाला व्यक्ति।

मोहन राकेश यह मानते रहे कि-

"रंगमंच का रूप विधान नाटकीय प्रयोगों के अभ्यांतर से जन्म लेगा और रंगकर्मी उसे विकसित करंगे। मैंने अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि रंगमंच के अर्थ को लेकर हमारे मन में एक भ्रम बना रहा है कि प्रदर्शन के लिये तैयार दृश्यबन्ध रंगमंच है जबकि रंगमंच नाटक का आन्तरिक धर्म है। इसलिये मेरी प्रारंभ से ही यह मान्यता रही कि हर नाटक अपना रंगमंच स्वयं अपने साथ लेकर जन्मता है।"[1]

नाटकों के प्रयोगों के दौरान ही रंगमंच का रूप स्पष्ट हो जाता है। 1950 ई. के बीच केवल दो ही नाटक ऐसे थे जिनमें नाटक की सही समझ काफी हद तक अभिव्यक्त हो सकी है। 1951 में आया जगदीशचन्द्र का नाटक 'कोणार्क' और 1954 में सामने आया धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग'।

इधर नई पीढ़ी के रचनाकार मौलिकता और श्रेष्ठता की दृष्टि से नया प्रतिमान स्थापित नहीं कर सके। राष्ट्रीय स्तर पर आज भी चार-पाँच नाटककारों की ही चर्चा एवं प्रशंसा होती है व इन्हीं के वे पाँच-सात पुराने नाटक सर्वत्र खेले भी जाते हैं।

प्रयोगशीलता के नाम पर इस दशक में ऐसे नाटक भी आये जो रंगमंच को एक नया रूप दे रहे थे। रमेश वर्मा अपने घर की छत को ही थियेटर के रूप में इस्तेमाल करते हैं। उनका नाटक 'गधे-घोड़े', टेरेस एवं आंगन रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखा गया। समकालीन नाटककारों ने मंगलाचरण, नान्दीपाठ, चूलिका, अंकावतार जैसी प्राचीन रुढ़ियों का बहिष्कार किया। आधुनिक परिवेश में आकर नाट्य विद्या अन्य अनेक रुढ़ियों से मुक्त रही। मंगलाचरण व नांदीपाठ के स्वरूप को पूर्ण रूप से नाटककारों ने त्याग दिया। कुछ नाटककारों ने लोकनाट्यों के आधार पर फिर से मंगलाचरण व प्राचीन नाट्यरुढ़ियों को अपनाया।

डॉ. लाल का 'तोता मैना', 'सगुन पंछी', मणिमधुकर का 'खेल पोलमपूर', 'रसगन्धर्व' आदि अनेक उदाहरण लिये जा सकते हैं जिसमें मंगलाचरण की परम्परा को प्रयोग में लाया गया।

आधुनिक नाट्य में जहाँ व्यस्तता, आधुनिकता, अजनबीपन व्यक्त हो रहा है वहीं पर नाट्य विधा में बड़ी तेजी से शिल्पगत परिवर्तन हुआ।

'लहरों के राजहंस' में शंखध्वनि, शुतुरमुर्ग, राजा-रानी में मंगलगान, पहला राजा में डमरू, नगाड़े तथा बाँसुरी का समन्वित स्वर मंगलाचरण का बोध कराते हैं।

अतः साठ के दशक में रंगमंच पर नाटक के प्रारंभ में मंगलाचरण की व्यवस्था तो रहती ही थी और साथ ही भारतेन्दु आदि नाटककारों द्वारा जो इसकी प्रथा को अपनाया गया था इसे ही प्रयोग में लाया गया। किन्तु इस दशक में युवा नाट्यकारों के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न खड़ा था वह यह कि रंगमंच आखिर है कहाँ, नाटक में या फिर रंगशाला में इसकी स्थापना की गई है? और इस रंगमंच का अर्थ क्या है?

"रंगमंच का अर्थ दृश्यबन्ध नहीं, ध्वनि, प्रकाश, संयोजन का चमत्कार नहीं, रंगशाला नहीं तो फिर क्या? नुक्कड़ नाटक, सड़क नाटक, टेरेस थियेटर, आंगन रंगमंच, मुक्ताकाशी रंगमंच आदि प्रयोगों ने इन सबों की व्यर्थता सिद्ध कर दी है। प्रश्न उठता था कि फिर रंगमंच कहाँ पर है। क्या तिलमही तेल, चकमक में आग, पुष्प में सुवास की तरह नाटक के भीतर ही है रंगमंच।"[2]

सन् 1954 में संगीत नाटक अकादमी और सन् 1959 में राष्ट्रिय नाट्य विद्यालय की स्थापना ने रंगक्षेत्र में नाटककारों और रंगकर्मियों के लिये प्रेरणा का वातावरण उपस्थित कर दिया, जिसने छठे दशक की प्रयोगशील नाट्य परम्परा की पृष्ठभूमि निभाई।

डॉ. शंकर शेष 1956 से ही रंगमंच से जुड़ गये और अपने अनेक नाटकों द्वारा नाट्य विद्या को समृद्ध करते रहे। उनके 'अरे मायावी सरोवर', 'घरौंदा', 'रक्तबीज', 'पोस्टर', 'एक और द्रोणाचार्य', 'तिल का ताड़', 'खजुराहो का शिल्प' आदि सफल नाटक आधुनिक व्यक्ति की त्रासदी व वैचारिक द्वन्द्व को उद्घाटित करते हैं।

यही नहीं इस दशक में व्याप्त रिश्वतखोरी जैसी बुराइयों पर राजेन्द्रकुमार शर्मा का नाटक 'अपनी कमाई' है जो एक सफल हास्य नाटक है। हास्य नाटककार होने के साथ-साथ इन्होंने अनेक मंचीय नाटक और रेड़ियो नाटक लिखकर इस

नाट्यजगत को समृद्ध किया है।

हिन्दी में ही इस बीच उल्लेखनीय कृतियाँ सामने आई हैं। स्त्री-पुरूष सम्बन्धों के सूक्ष्म विश्लेषणात्मक नाटकों के साथ-साथ जीवन और जगत की अनेक बुनियादी समस्याओं तथा अन्य गहन एवं व्यापक पहलूओं का जीवंत चित्रण इधर के नाटकों (50-60 दशक) में देखने को मिलता है। इनकी उपलब्धियाँ भले ही उल्लेखनीय न हों, किन्तु इनकी संभावनाएँ निःसंदेह अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

नारी के स्वाभिमान व स्व-अस्तित्व की भावना को रंगमंच पर प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया गया। 'रजतरश्मि' के संबंध में राजकुमार वर्मा का मत इसी से सम्बन्ध रखता है जिसमें नारी के अन्तर्द्वन्द्व एवं मनोविज्ञान को रंगमंच पर दर्शाया है-

"यदि ऐसे नाटक रंगमंच पर किये जायें तो संयोजक नाटक के वातावरण और कथावस्तु की परिस्थिति के अनुसार रंगमंच की उचित व्यवस्था कर सकेंगे।"[3]

नाटक को रंगमंच की संरचना में जोड़कर अनेक नाटककारों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जिनमें छठे दशक में प्रमुख हैं - जगदीशचन्द्र माथुर और धर्मवीर भारती।

कोणार्क - धर्मवीर भारती

छठे दशक के प्रारंभ में ही हिन्दी नाटक को रंगमंच से जोड़ने और उसे सार्थक रचनाशीलता के स्तर पर प्रस्तुत करने का उल्लेखनीय प्रयास जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने नाटक 'कोणार्क' में किया। 1951 में इसी नाटक के प्रकाशन से नाट्य आन्दोलन का प्रारंभ हो गया।

यह पहला ऐतिहासिक नाटक था जिसने यथार्थवादी नाट्य लेखन परम्परा की शुरुआत की। इस नाटक में वस्तुविधान और चरित्र विधान आदि तत्वों को शामिल

किया गया। इसमें "एक बीते हुए युग के सन्दर्भ में समकालीन जीवन्त भावस्थिति का अन्वेषण किया गया है जिसमें घटनाओं, पात्रों और भाषा को एक से अधिक स्तर और आयाम प्राप्त हैं और सम्भाष्य निहित नाटकीय अर्थों का महत्व बढ़ जाता है।"
ई. सन् 1260 के आसपास उत्कल नरेश नरसिंहदेव के समय में कोणार्क मन्दिर को निर्मित कराया गया था। कोणार्क नाटक की कथावस्तु को उसी ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर लिखा गया है।

नाटककार ने एक कलाकार के अहं और उसके व्यापक दृष्टिकोण के साथ यथार्थवादी चेतना का मणिकांचन प्रयोग किया है। प्रस्तुत नाटक में पर्याप्त रंगसंकेत दिये गये हैं। जो नाटककार के रंगमंचीय सूझबूझ के परिचायक हैं। मंचसज्जा के बारे में नाटककार का मानना है -
"एक कक्ष का भीतरी भाग। मंदिर की विशाल चहारदीवारी के भीतर मुख्य मन्दिर से लगभग पचास गज दक्षिणपूर्व की ओर एक भोज मन्दिर है। यह कमरा उसी में है और मन्दिर के निर्माण के दिनों में महाशिल्पी विशु का निवास स्थान है। सामने तीन द्वार हैं जिनमें से बीचवाले को छोड़कर बाकी दोनों खिड़की जान पड़ती हैं। खिड़की के बराबर स्तम्भ है। खिड़कियों और सामनेवाले द्वार में मुख्य मंदिर और जगमोहन की झलक दिखती है। मंदिर की यह झलक जितनी सजावपूर्ण है उसके अपेक्षाकृत उतनी की महाशिल्पी का यह निवास स्थान, यह कमरा अत्यन्त सादा और अलंकार-विहीन है। इधर-उधर कुछ आधी उत्कीर्ण मूर्तियाँ पड़ी हैं। कुछ पाषाण खण्ड रखे हैं, जिन पर की गई खुदाई नजर पड़ रही है। कुछ छेनियाँ और अन्य औजार भी पड़े हैं।

नाटक में प्रमुख पात्र हैं विशु, धर्मपद, नरसिंह देव राजराजा चालुक्य और सोम्य श्रीदत्त। गौण पात्र हैं सूत्रधार, पहली वाचिका, दूसरी वाचिका, राजीव शैवालिक, महेन्द्र बर्मन भास्कर, गजाधर, प्रतिहारीगण तथा सैनिक।

इस नाटक की भाषा जहाँ नाटकीयता से ओत-प्रोत है तो वहीं इसके विभिन्न

रंग भी हमें देखने को मिलते हैं। उनकी दृष्टि शब्दों के और ध्वनि के जादू से ओतप्रोत है। संवादों में सरसता के साथ-साथ ओज गुण और मार्मिकता भी है। मंचसज्जा, पात्रों की वेशभूषा और रूप विन्यास के प्रति भी रचनाकार पूर्ण सजग रहा है। उनकी रंगदृष्टि बीच-बीच में दिये गये रंगनिर्देशों में अन्त में परिशिष्ट के संकेतों में दिख पड़ती है।

विषय, कथावस्तु, क्रम विकास संवाद, ध्वनि आदि सभी दृष्टियों से इस नाटक को अगर परखा जाय तो यह नाटककार का रंगमंच की दृष्टि से लिखा हुआ सफल नाटक सिद्ध होता है।

अन्धा युग (1954)

महाभारत के विभिन्न स्त्रोतों से ग्रहण की गई इस काव्य नाटक की कथा में महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से कृष्ण की मृत्यु तक की घटनायें वर्णित हैं। अपरिमित रंगमंचीय सम्भावनाओं का नाटक 'अन्धा युग' हिन्दी ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

धर्मवीर भारती द्वारा लिखित इस नाटक में निराशा, कुण्ठा, पशुता, व्यर्थता, अनास्थावादी स्वर, युद्धोत्तर स्थिति आदि वर्णित है।

'अब तक यह नाटक प्राय: सभी प्रतिभावान भारतीय निर्देशकों एवं उल्लेखनीय नाट्यदलों द्वारा विविध नाट्यशैलियों और भाषाओं में अभिमंचित होकर देश की बहुरूपी सम्पदा एवं प्रयोग धर्मिता को रेखांकित करनेवाला एक महत्वपूर्ण नाटक बना हुआ है।"[4]

धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' से आधुनिक काव्य नाटकों की एक नयी परम्परा शुरु हो गयी थी। उनके द्वारा लिखे इस काव्य नाटक की प्रेरणा दो-दो महायुद्धों की विभीषिका है। दूसरे विश्व युद्ध की विभीषिका के पश्चात जो भयंकर स्थितियाँ विश्व मानव के सामने आयीं, वे बहुत कुछ महाभारत कालीन विकृति, अमर्यादा और

अनैतिकता जैसी ही है।

सन् 1960 के बाद दो दशकों तक 'अन्धा युग' सत्यदेव दुबे, एम. के. रैना, भानु भारती, राज बि रिया, इब्राहम अल्काजी, मोहन महर्षि, बंसी कौल आदि मेघावी कल्पनाशील रंगकर्मियों ने अपने निर्देशनों के अनूठे प्रयोगों से इसे मंचित किया है। इन निर्देशकों द्वारा प्रोसीनियम से लेकर मुक्ताकाशी मंच तक और यथार्थवादी और लोकशैली से लेकर पारसी, काबुकी, एब्सर्ड, मनोशारीरिक इत्यादि विविध शैलियों के बहुविध रंग रूपों में अभिमंजित किया जा चुका है।"[5] लगभग सभी शैलियों, रूपों और मंचों पर अन्धा युग के अब तक जितने भी प्रयोग हुए हैं उतने किसी अन्य नाटक में नहीं। इसकी प्रथम मंच प्रस्तुति 1962-63 में सत्यदेव दुबे के प्रयास से, बम्बई के कवाला हिल के टेरेस पर बने मुक्ताकाशी मंच 'मेघदूत' पर, खुले आकाश के नीचे किया गया तथा दिल्ली में इब्राहम अल्काजीने फिरोजशाह कोटला के खण्डहरों, ताल कटोरा के खण्डहरों तथा पुराना किला की तीन अलग-अलग प्रस्तुतियों मे इसे एक विराट आयाम देने की कोशिश की। रवि वासवानी ने इसे आधुनिक रूप रंग देकर प्रस्तुत किया। इसमें उन्होंने "नंगे बदन कलाकारों को काली पैंट पहनाकर, उनके चारित्र्य के अनुरूप माथे पर लाल, सफेद, काली, सुनहरी प्रतीकात्मक पट्टियाँ बाँध दीं, पौराणिक अस्त्र-शस्त्रों के नाम पर आधुनिक बंदूकों, पैरा, जैकेट, हेलमेट तथा आधुनिक युद्ध के ध्वनि प्रभावों का इस्तेमाल किया।"[6]

एम. के. रैना ने परम्परागत लोक रंग तत्वों द्वारा एक नूतन भंगिमा प्रदान की। यक्षगान तथा कथकली की परिधान शैली और कथागायन में शास्त्रीय संगीत के रागों के प्रबाव के साथ-साथ पुराने किले के इस नाटक में पूजा के धार्मिक अनुष्ठान और प्रतीकात्मक रंग पट्टियों का प्रयोग किया गया।

मोहन महर्षि ने मॉरिशस के कलाकारों के साथ इसे बन्द प्रेक्षागृह में यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत किया।

ब. व. कारंत ने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्र के रूप में अपनी परीक्षा के लिये 'अन्धा युग' के कुछ अंशों को यक्षगान शैली में प्रस्तुत किया। परिस्थितियों एवं मनःस्थितियों के अनुकूल प्रभावशाली संगीत का नाटक में प्रयोग हुआ।

इब्राहम अल्काजी ने स्थापत्य, दृश्यत्व और अभिनय के साथ दिल्ली के पुराने किले में ही काबुली और कथक शैली के कुछ तत्वों से अन्धा युग की भव्य एवं दृश्यात्मक प्रस्तुति की।

'अन्धा युग' की रंगमंचियता के सम्बन्ध में डॉ. सिद्धनाथ कुमार कहते हैं - "अन्धा युग रंगमंचियता की सफलता का आधार है। इसका शिल्पगत वैविध्य जो संवाद, छन्द, भाषा, बिम्ब और प्रस्तुतिकरण पद्धति आदि सभी स्तरों पर देखा जा सकता है।... संवादों की विशेषता है कि इन्होंने अपने लिये यथास्थान अनुरूप छन्द गढ़ लिये हैं... कहीं सममात्रिक तुकांत छन्द हैं, कहीं अतुकांत मुक्त छन्द, कहीं इनकी गति क्षिप्र है, कहीं मंद। इनकी लय और गति में पर्याप्त वैविध्य है जिससे रचना में एकरसता नहीं आने पाती।"[7]

पुणे में 'पुणे विश्वविद्यालय' के हिन्दी विभाग के रजत जयंती समारोह पर 'रंगमंडल' भोपाल ने मार्च 1986 में इसका प्रदर्शन किया। 1990 में शाहजहाँपुर की नाट्य संस्था अनामिका ने इस नाटक के चार प्रदर्शन किये।

अन्धा युग के माध्यम से मंचाभिकल्पना के लगभग जितने भी प्रयोग किये गये हैं, उनमें बाक्स रंगमंच, खुला रंगमंच, प्राकृतिक परिवेश रंगमंच तथा जितने अन्य सभी रंगमंच में इसे मंचित किया है, इसे सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु नाटककार के मन में पर्देवाली कल्पना से आगे मंचाभिकल्पना कुछ ठोस नहीं है।

धर्मवीर भारती का कहना है - "अन्तराल के पहले दशकों को लम्बा मध्यांतर दिया जा सकता है। मंचविधान जटिल नहीं है। एक पर्दा पीछे स्थायी रहेगा। उसके

आगे दो पर्दे रहेंगे। सामने का पर्दा अंक के प्रारंभ में उठेगा और अंक के अंत तक उठा रहेगा। उस अवधि में एक ही अंक में जो दृश्य बदलते हैं उनमें बीच का पर्दा उठता गिरता रहता है। बीच का और पीछे का पर्दा चित्रित नहीं होना चाहिए। मंच की सजावट कम से कम होनी चाहिये।"[8]

कथानायक द्वारा दृश्य योजना 'अन्धा युग' में दृष्टिगत है। हर दृश्य के समाप्त होने पर सार्थक कथागायन होता है। इस संबंध में इसकी भूमिका में लिखा गया है कि - "दृश्य परिवर्तन के समय कथा गायन की योजना है। यह पद्धति लोकनाट्य परम्परा से ली गई है। कथानक की जो घटनायें मंच पर नहीं दिखायी जाती, उनकी सूचना देने, वातावरण की मार्मिकता को और गहन बनाना था। कहीं-कहीं उसके प्रतीकात्मक अर्थों को भी स्पष्ट करने के लिये यह कथागायन की पद्धति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।"[9]

इस नाटक की मुख्य विशेषता यह भी रही कि निर्देशक की कलात्मक भूख या यूं कहें कि उनकी प्रयोग निर्मिती इस नाटक में अधिक दिखायी देती है। उनके लिये सिर्फ नाटक प्रस्तुत करना महत्वपूर्ण नहीं रह गया है। बल्कि किस तरह प्रस्तुत किया गया है यह महत्ता रखने लगा है। इन निर्देशकों ने एक ही नाटक को अनेक अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। यह निर्देशक की कलात्मक अभिव्यक्ति को ही दर्शाता है।

अनेक प्रयोगों से एक ही नाटक की अलग-अलग प्रस्तुतियाँ उसकी संभावनाओं के द्वार खोलने लगती है। वे कभी आधुनिकता से इसे जोड़ते हैं तथा कभी संघर्ष को अभिव्यक्ति देते हैं, कभी घुटन को, तो कभी भविष्य की सम्भावनाओं को।

संगीत सिर्फ खानापूर्ति के लिये नहीं, बल्कि उसका आरोह-अवरोह भाव की तीव्रता या मन्दता दर्शाने के लिये प्रयुक्त होता है। भावों की सघनता संगीत के लय, टोन द्वारा अधिक भाव प्रवण बन गया है। नाटक में 'मौन' का भी विशेष प्रभाव रहा है जो किसी भाव की गंभीरता, जटिलता या तैरते प्रश्नों को दर्शाता है।

सातवें दशक में नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग :

भारतेन्दु एवं प्रसाद के नाटकों के बाद जो रंगमंच और नाटक के मध्य व्यवधान पड़ा उसके पश्चात सातवें दशक में युवा लेखकों ने इस ओर कदम बढ़ाया और अपने नाट्य लेखन की एक अलग परम्परा से (जो छठे दशक में ही प्रारंभ हो गई थी) इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया और सुनसान पड़े हुए रंगमंच को गति देने का प्रयत्न किया।

यह दशक नाट्यसृजन एवं रंगमंच की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। इस दशक में दो प्रकार की रंगयोजनाओं को ध्यान में रखा गया था। इस कारण इसके नाटक रंगमंच की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय रहे। नाटकों में एक सुनिश्चित उद्देश्य को लेकर चलना व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार, असंगति और विडम्बनाओं के समीप पहुँचकर अयथार्थवाद के अस्तित्ववाद पर लगातार कटाक्ष, आदि प्रथम प्रकार के प्रयत्न रहे हैं। इन नाटककारों की दृष्टि व्यापक थी और चित्र अपेक्षाकृत उनके नजदीक पहुँच चुका था। जिसमें जीवन की मूल्यवत्ता पूरी तरह साकार हो उठी थी। दूसरे प्रकार के वे नाटक थे जिनमें कथा का कोई अता-पता नहीं था। कथावस्तु टुकड़ों-टुकड़ों में बिखरी पड़ी थी। और ऐसा भी नहीं था कि कि इस दशक तक आते-आते ग्रामीण रंगमंच को इससे अलग्र रखा जाय। ग्रामीण नाटकों में 'भूमि की ओर' नामक रंगमंचीय नाटक ग्रामीण समस्याओं को लेकर ही 1969 के आसपास डॉ. चन्द्र ने लिखा। इस अप्रकाशित नाटक की प्रस्तुति जबलपुर के ग्रामीण क्षेत्रों तथा 1976 को इडा प्रकाशन 257/1, बाबुपुरवा कॉलोनी कानपुर से इसका प्रकाशन हुआ। इसके बाद तो इसकी प्रस्तुति कई अन्य शहरों में की गई।

डॉ. चन्द्र का ही अगला नाटक 'आकाश झुक गया' पहले एकांकी की तरह खेला गया फिर 1977 में नाटक के पूर्व प्रकाशन के बाद भी रजनीरमण शर्मा ने अपने निर्देशन द्वारा इसकी दो बार रंगमंचीय प्रस्तुति की। कानपुर में श्री विजय श्रीवास्तव के निर्देशन में इस नाटक को रंगमंचीय दृष्टि से बड़ी सफलता प्राप्त हुई

तथा इसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
THE MAHARAJA SAYAJIRAO UNIVERSITY OF BARODA
The M. S. University of Baroda

सातवें दशक में इन ग्रामीण और सामाजिक हिन्दी नाटकों के साथ ही भारत की अन्य भाषाओं के अच्छे नाटक हिन्दी में अनुवादित होकर मंचित किये जाने लगे। यह प्रक्रिया "हिन्दी नाट्य लेखन के अभाव को पूरा करने के लिये और हिन्दी रंगमंच को गति, प्रयोगशीलता और सृजनधर्मी चेतना देने के लिए अच्छा कदम था।"[10]

मराठी नाटकों से अनुवादित नाटकों की परम्परा में विजय तेंदुलकर के प्रसिद्ध नाटक जिन्हें हिन्दी में अनुवादित किया गया था वे इस प्रकार हैं - घासीराम कोतवाल, खामोश अदालत जारी है, पंछी ऐसे आते हैं, सखाराम बाइडर, गिधाड़े, कन्यादान आदि। इसके अतिरिक्त कन्नड़ नाटककार गिरीश करनाड़ के तुगलक, हयवदन, ययाति आदि। बादल सरकार के एवं इन्द्रजीत, बाकी इतिहास, अंत नहीं, पगला घोड़ा, जुलूस, अबु हसन, रामश्याम जादू, बुआ जी तथा आद्या रंगाचार्य - सुनो जनमेजय आदि। इन्हें लिखा गया और हिन्दी रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया।

भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त इस समय पाश्चात्य नाटकों के अनुवादन का भी प्रभुत्व हमारे यहाँ छाया रहा। शेक्सपियर, मोलियर, ब्रेख्त, चेखव, बेकेट आदि नाटककारों के नाटकों को अनुवादित कर सफल मंचन किया गया।

रेड़ियो नाटक व हास्य नाटक भी प्रयोग की दृष्टि से सफल रहे। हास्य नाटक की आड़ में नाटककार जीवन की विड़म्बनाओं असंगतियों, विसंगतियों आदि को सम्पूणर्ओ रूप से उद्घाटित करते हैं व इनमें छिपी जटिलताओं, विषमताओं तथा परम्परागत रुढ़ियों पर करारा प्रहार करते हैं। रमेश मेहता द्वारा लिखित 'वाह रे इन्सान' 1970 में खेला गया। हास्य नाटककारों में इस दशक में रमेश मेहता का विशिष्ट स्थान है।

सन् 1960-70 के मध्य देशभक्ति के ऊपर भी नाटक लिखे गये, इनमें, नेफा

की एक शाम, वतन की आबरू आदि रंगमंच की दृष्टि से तो काफी प्रशंसनीय रहे वहीं प्रयोगधर्मिता की श्रेणी में पद्य नाटकों की भी रचना हुई।

प्रयोगशील नाटकों में, बकरी, छोटे सैय्यद बड़े सैय्यद, लड़ाई, एक था गधा, आदि नाटकों में शिल्प की दृष्टि से व्यक्ति विशेष के चरित्र को आधार बनाकर रंगमंच में नये प्रयोग किये गये।

रायपुर में प्रयास नाट्य संस्था द्वारा 'गोड़ो के इंतजार में' का प्रदर्शन सामान्य रहा परंतु इस नाट्य संस्था की (1971 में) इस प्रस्तुति को प्रशंसनीय ही कहा जायेगा। इसी वर्ष इस संस्था ने इस नाटक का दूसरा प्रदर्शन भी रायपुर में ही किया। विभूकुमार द्वारा लिखित सड़क नाटक 'मुखौटे' का प्रदर्शन नगर की व्यस्ततम सड़कों पर किया गया। प्रयोग की दृष्टि से किये गये इस नाटक के विशाल दर्शक वर्ग ने इसकी सफलता को सूचित किया। अभिनय की दृष्टि से भी यह प्रदर्शन हिन्दी रंगक्षेत्र में सफल रहा, और प्रयोग की दृष्टि से सड़क नाटक 'मुखौटे' एक महत्वपूर्ण उपलब्धि रही।

थियेटर युनिट के तत्वाधान में 21 नवम्बर 1969 को बम्बई के तेजपाल हॉल में 'आषाढ़ का एक दिन' की प्रस्तुति हुई। श्री सत्यदेव दुबे ने अपने नये चमत्कारी प्रयोग से दर्शकों का मन जीतने का प्रयास किया। अपने सफल निर्देशन के माध्यम से इसे उन्होंने रंगमंच पर प्रस्तुत किया।

तुगलक (1964)

'तुगलक' हिन्दी में अनुवादित नाटक है। गिरीश कर्नाड द्वारा लिखित इस नाटक का मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी भाषा में भी अनुवाद हो चुका है। तुगलक पहले कन्नड़ भाषा में लिखा गया था।

तुगलक को इतिहास में पागल मुहम्मद कहा गया है। इस पागल पर

नाटककार ने नाटक क्यों लिखा इस सम्बन्ध में नाटककार का मत है -
"सबसे ज्यादा मैं प्रभावित तुगलक के इतिहास की समसामयिकता से हुआ, इस तथ्य से कि दिल्ली की गद्दी पर बैठने वाले वह असाधारण रूप से आदर्शवादी और बुद्धिमान लेकिन सर्वाधिक असफल सुलतान था और बीस साल की अवधि में यह असाधारण रूप से योग्य व्यक्ति पूरी तरह से टूटकर बिखर गया। इसके कारण सम्भव हो उसका आदर्शवाद तथा उसकी कमियाँ जैसे अधैर्य, क्रूरता और यह मानना कि मात्र उसी के पास सही उत्तर है। मुझे लगा कि छठे दशक तक भारत भी काफी दूर तक इसी दिशा में आगे बढ़ता रहा है। इस बीस वर्ष की अवधि में मुझे तुगलक के बीस वर्ष के साथ बहुत बड़ी समानता दिखायी दी।"[11]
'तुगलक' विविध नाट्य संस्थाओं द्वारा प्रदर्शित किया जा चुका है। इब्राहीम अल्काजी ने दिल्ली के पुराने किले में तुगलक का मंचन विराट ऐतिहासिक खण्डहरों की पृष्ठभूमि में किया । इसकी प्रस्तुति के समय इसके मंच की परिकल्पना नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के खुले रंगमंच के खयाल से तैयार किया गया था। मंच का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया था। जिसमें एक वृद्धाकार पीपल का वृक्ष और अन्य पेड़ों को इस प्रकार स्थित किया गया था कि वो कार्य व्यापार को एक केन्द्र प्रदान करने के साथ-साथ मंच चित्रों की अन्विति भी कर सकें।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगमण्डल ने सौ से अधिक बार इस नाटक का प्रदर्शन किया है और साथ ही विदेश, लंदन आदि में इसक प्रदर्शन हो चुके हैं।

ओम शिवपुरी के निर्देशन में दिशान्तर ने यह नाटक खेला था जिसमें स्वयं 'तुगलक' ओम शिवपुरी और अम्मीजान का पार्ट सुधा शिवपुरी ने किया था। आगे मंच पर मुख्य कार्यस्थल है जहाँ भीड़ के जुलूस के दृश्यों को दर्शाया जाता है। पृष्ठमंच के दक्षिण में तुगलक का अध्ययन कक्ष है। इसे सजाया गया है। दीवार से दीवार तक फर्श बिछाया गया है। इसमें शाही तख्त और दो नीची मेजें हैं जिनमें से एक पर उनकी शतरंज बिछी है और दूसरी तरफ हरे रेशमी कपड़े से ढकी कुरान पाक रखी है रहल पर। अध्ययन कक्ष की पिछली दीवार पर कई ताख हैं जो किताबों, नक्शों,

पाण्डुलिपियों और यन्त्रों से ठसाठस भरे हैं ताकि तुगलक की अध्ययनशील वैज्ञानिक और अन्वेषणप्रिय रूचि का संकेत मिल सके। इस रंग संकेत का मूल अभिप्राय है कि एस ऐसे प्रतिभाशाली चरित्र का चित्रण हो जाय जो दूरदृष्टि में अपने समय में शताब्दियों से आगे था और जिसका आधुनिक मन इस विशाल देश को एक राष्ट्र का रूप देना चाहता था।

नाटक में तेरह दृश्य हैं। नाटक में दृश्यविधान संकेतात्मक और वस्तुपरक हैं, जिसमें अलग-अलग स्तरों पर अभिनय क्षेत्र हैं। नाटक में संगीत का प्रयोग भी किया गया है जो तुर्की और पारसी की पारम्परिक संगीत शैली से मिलता है। इसमें तीन भाग हैं। दरबारी समारोह और जुलूस, तुगलक के लिये वस्तुगीत तथा वातावरण के अनुसार संगीत में बदलाव तथा कुराण की आयतों के पाठ के समय संगीत का प्रयोग किया जा सकता है।

वेशभूषा ऐतिहासिक पात्रों के समान लगनेवाली होगी जो उस वातावरण को व्यक्त कर सके। भीड़, अमीर-उमराव और दरबारी औरतें तथा स्वयं तुगलक ऐसे कपड़े पहनते हैं जो उनके व्यक्तित्व और चरित्र को दर्शाते हैं।

मुक्ताकाशी रंगमंच पर 'तुगलक' नाटक की मंच सज्जा बन्सी कौल ने की थी। उस मंच सज्जा के बारे में बन्सी कौल बताते हैं -
"जब मैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में था तो पुराने किले के लिये दृश्यांकन करने का काम एक अध्ययन सम्बन्धी परियोजना के रूप में मुझे दिया गया था। इसलिये वहीं प्रदर्शन के लिए दृश्यांकन मूलतः मेरा ही तैयार किया हुआ है। समस्या यही थी कि दर्शक वर्ग पहले से ही बना हुआ था। दूसरे पुराने किले में जो बाकी जगहें थीं वे बड़ी और फैली हुई थीं। जिस स्थल का व्यवहार किया गया, उसमें बहुत से चौखटे थे। चौखटे के अन्दर चौखटे क्योंकि विराट ऐतिहासिक इमारतों में अभिनय करने में अभिनेता के लिये पहुत सी समस्याएँ पैदा होती हैं। वह बहुत छोटा सा लग उठता है। इसीलिये नीचे वाला चबुतरा बनाया गया था। उसके बाद दीवार, , फिर कुछ सीढ़ियाँ

उसके बाद बगल में कुछ सीढ़ियाँ जोड़ी गयी थीं। यह जानबूझकर किया गया था। क्योंकि, अभिनेता अपने अनुपात में ही चीजों को देखना चाहेगा। अगर वह ऊपर देखे तो इमारत के विराट आकार कई बार अभिनेता को डरा देते। इस तरह की इमारत में दृश्य रचना की बड़ी भारी समस्या पुरातत्व विभाग के नियमों के कारण पैदा होती है। क्योंकि आप इमारत में किसी तरह का परिवर्तन नहीं कर सकते। इसलिये सीमा यह है कि जो कुछ मौजूद है उसी में कितना नया रचा जाये, और कैसे अच्छे से अच्छा इस्तेमाल किया जाय। तीसरे, ऐसी खण्डहरनुमा इमारतों में टूटा-फूटा होने की वजह से अभिनेता के आने-जाने के लिये कई रास्ते खुल जाते हैं। सीढ़ी बन जाती है। इसलिए खण्डहरों के दृश्यांकन में नयी सूझ-बूझ के लिये बड़ी गुंजाइश रहती है गतिविधान की, प्रवेश प्रस्थान की, धरातलों की ज्यादा सम्भावनायें रहती हैं।"[11]

लहरों के राजहंस (1968)

मोहन राकेश का यह दूसरा नाटक 1968 में अपने नये रूप में प्रकाशित हुआ जो तीन अंकों में विभाजित है। तीन अंकों का कार्य व्यापार राजकुमार नन्द के भवन में सुन्दरी के एक कक्ष के एक ही दृश्यबन्ध पर प्रस्तुत किया गया है।

दर्शकों की दृष्टि से नाटक ऐतिहासिक, राजसी, आकर्षक वातावरण, जिसमें मत्स्याकार आसन, कोष्ठ, श्रृंगार कोष्ठ, पुरुष-मूर्ति, स्त्री-मूर्ति वाले दीपाधार आदि से एक भव्य दृश्यबन्ध प्रस्तुत करता है और दर्शक को अभिभूत कर लेता है। अंधेरे में नेपथ्य से सुनाई देता है धम्मं शरणं गच्छामि - का स्वर तथा मंच पर रात उतरने के समय का आभास देती है। प्रकाश योजना अद्‌भुत प्रभाव डालती है और दर्शक-पाठक की कल्पना को बान्धकर वर्तमान से अतीत की ओर बड़े मायावी ढंग से ले जाती है।

नाटककार की रंगमंचीय जानकारी का एक प्रमाण और मिलता है जब वह दृश्यबन्ध योजना एवं सजावट में देशकाल एवं सौन्दर्यबोध का परिचय ही नहीं देता बल्कि मंच पर रखी हुई प्रत्येक वस्तु को स्थिति के अनुसार नाट्य में प्रयोग करने से भी नहीं भूलता है। दीपाधारों का उपयोग, नाटक में नौ स्थानों पर किया गया है।

प्रकाश का उपयोग रात उतरने का समय, रात का अन्तिम पहर, फिर प्रभात और रात्रि के बीच का पहर तीनों अंकों में किया गया है। ध्वनि का नाटक में विस्तृत निर्देशन दिया गया है।

संवादों में नाट्य विड़म्बना भरी पड़ी है जो नाटक में हर आनेवाली घटनाओं को रोचक और प्रभावपूर्ण बनाकर उसकी नाटकीयता में वृद्धि करती है।

"हाँ, रात के अन्तिम पहर तक। मौज अपनापन और नृत्य। वर्षों तक याद बनी रहना चाहिए लोगों के मन में।"[12]

निर्देशन में 15 दिसम्बर 1968 को इलाहाबाद के पेलेस थियेटर में प्रस्तुत किया गया। परंतु इसको ज्यादा सफलता नहीं मिली, जितनी आषाढ़ के एक दिन को मिली थी। बाद में दिल्ली में 1978 में लेड़ी श्रीराम कॉलेज द्वारा लक्ष्मीनारायण लाल के निर्देशन में लहरों के राजहंस की प्रस्तुति हुई। लगभग ढाई घंटे के नाटक को डेड़ घण्टे का नाटक बनाने की प्रक्रिया में आलेक की निर्भयतापूर्ण कांट-छांट की गई। फिर भी दृश्यबन्ध के सुन्दर होने के बावजूद मंचीय उपकरणों का सार्थक प्रयोग नहीं हो सका और इसकी प्रस्तुति सामान्य रही। 1980 में दिल्ली की ही एक रंगसंस्था में फैज़ल अल्काजी के निर्देशन में इसका प्रदर्शन किया गया। उन्होंने नाटक की मूल आत्मा और चेतना को पकड़ा तथा अपने निर्देशन को सशक्त रूप में प्रस्तुत किया और नाटक को अच्छी सफलता मिली। अभिनय में नन्द का पार्ट करनेवाले आलोकनाथ की भूमिका इस प्रदर्शन की उपलब्धि रही। नाटककार द्वारा परिकल्पित दृश्यबन्ध से एकदम हटकर फैजल ने दीवारों के लिये अजंता शैली के दो बड़े भित्ति चित्रों का उपयोग किया।

इसके पश्चात दिल्ली, लखनौ, गोरखपुर आदि के मंचों पर भी अन्य नाट्यसंस्थाओं ने अपने-अपने कलाकारों द्वारा इस युगांतकारी नाटक का सफल मंचन किया। मोहन राकेश ने अपना यह नाटक निर्देशक श्यामानन्द जालान के साथ काफी बहस-मुबाहिसे के बाद पूरा किया था। मोहन राकेश ने इस नाटक की भूमिका में लिखा है -

"मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं है कि बिना रात-दिन श्यामानन्द के साथ नाटक के वातावरण में जिये, आधी-आधी रात तक उसे साथ बहस-मुबाहिसे किये औड़ नाटक की पूर्ण आन्विती में एक-एक शब्द को परखा, वह अंश अपने वर्तमान रूप में कदापित नहीं लिखा जा सकता। कमसे कम हिन्दी नाटक के सन्दर्भों में शायद पहली बार लेखन और प्रस्तुतिकरण की प्रक्रिया को उस रूप में साथ जोड़ा जा सका है। इसे संभव बनाने के लिये जो अनुकूल वातावरण मुझे वहाँ मिला था, मैं समझता हूँ कि उसी तरह के वातावरण मे रंगमंच की वास्तविक खोज की जा सकती है। लेखन के स्तर पर भी और परिचालना के स्तर पर भी।"[12]

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'

मोहन राकेश के बाद हिन्दी नाटककारों में सुरेन्द्र वर्मा एक महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय नाटककार के रूप में उभरकर सामने आये। सुरेन्द्र वर्मा का यह नाटक प्रत्यक्षतः ऐतिहासिक परिवेश का नाटक है। परन्तु, इसका कथ्य, शिल्प, प्रस्तुति, दृष्टिकोण और इसकी समस्याएँ एकदम आधुनिक हैं। स्त्री और पुरुष सम्बन्धों का बारीकी एवं बेबाकी से सूक्ष्म विश्लेषण, सुगठित शिल्प, बोलचाल की लय से परिपूर्ण संवेदनशील भाषा और प्रभावपूर्ण संवादयोजना इस नाटक की विशेषता है। सुरेन्द्र वर्मा को नाटकों में अपने योगदान के लिए भारतेन्दु पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया।

"पुस्तक जीने से लेकर जीवन जीने तक को इस साहसिक उत्तेजक और यातनापूर्ण यात्रा का प्रामाणिक दस्तावेज है - यह नाटक।"[13]

इस नाटक का सर्वप्रथम अभिमंचन 1970 में मुंबई की नाट्य संस्था 'अनिकेत' की ओर से अमोल पालेकर ने मराठी में तथा 50 से ज्यादा प्रदर्शन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के विभिन्न निर्देशकों द्वारा किये गये।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगमंडल में रामगोपाल बजाज के निर्देशन में इसके प्रस्तुतिकरण पर जयदेव तनेजा का मत था -

"इस बार की प्रस्तुति इसी नाट्यदल और निर्देशक की पहली प्रस्तुति से केवल वस्त्राभूषण, रूप विन्यास, गति एवं भाव भंगिमा के ही नहीं बल्कि कुछ अभिनेताओं के अंतर से मूल तनाव के स्वरूप और व्याख्या की भिन्नता के कारण भी अलग रही, परंतु आलेख की शक्ति, निर्देशन की कल्पनाशीलता, तकनीकी कौशल्य और अभिनय के जादू का अवसर इस बार भी दर्शकों के सिर चढ़कर बोलता रहा।"[14]

भाषा, शिल्प एवं संवाद :

सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटकों में भाषा को महत्व दिया है। एक-एक शब्द नाटक के विस्तार को बढ़ाते चलते हैं। यही इनके लेखन की विशेषता है। चरित्र, स्थितियों और संवादों से लेकर हर शब्दों तक उन्होंने एक सामंजस्य प्रतिस्थापित किया है। नाटक के पहले अंक में शीलवती और महामात्य की स्थिति को मछली की आँख के समान माना है जिसे आगे चलकर नाटक के तीसरे अंक में इस प्रसंग की विड़म्बना को इस तरह द्दष्टव्य किया गया है -

"नाटक में चूंकि ओक्काक और शीलवती के एक-एक पल और एक-एक सांस का, भावनात्मक इतिहास प्रस्तुत करता है। इसलिये 'अन्तिम' और 'पहली' किरण का निश्चित एकाग्र और अलगावपूर्ण संकेत भी महत्वपूर्ण है। सूर्य शब्द की आवृत्ति उद्घोषणा के उच्चरित स्वर को एक उर्ध्वता और शक्ति देती है। पति-पत्नी के परंपरागत सम्बन्धों की जड़ता और घुटन के अन्धकार से स्वच्छन्दता और मुक्तता की पहली किरण तक की यात्रा को प्रस्तुत करने के कारण भी इस नाटक का यही नाम उचित प्रतीत होता है।"[15]

नाटक में वैसे तो कई पात्र हैं, किन्तु सम्पूर्ण नाटक दो-दो पात्रों के संवादों के माध्यम से आगे बढ़ता है। जयदेव तनेजा का मानना है -

"काम सम्बन्धों की कमनीय-उदात्त चित्रण की द्दष्टि से सुरेन्द्र वर्मा हिन्दी नाट्य साहित्य में अद्वितीय हैं। परन्तु इनके लेखन का मूल सरोकार संभोगसुख न होकर घर-परिवार और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की छानबीन से है। और सेक्स इसका एक

अनिवार्य माध्यम है।"[16]

दृश्यबंध व प्रकाश व्यवस्था :

तीन अंकों के इस नाटक में प्रमुख पात्र ओक्काक है। ओक्काक के राजप्रसाद में एक शयनकक्ष है। राजप्रसाद और शयनकक्ष दोनों को एक ही दृश्यबंध पर प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे अंक में नाटककार ने मात्र प्रकाश व्यवस्था के परिवर्तन से धर्मनटी महाशनी शीलवती के एक रात्रि का पति प्रतोष के लिये शयनकक्ष का काम लिया गया है। कल्पनापूर्ण प्रकाश-व्यवस्था के माध्यम से नाटककार दृश्यबंध को पर्याप्त लचीला बनाने में सफल हुआ है। यह नाटककार की कुशलता का ही परिणाम है। स्वगठन और संरचना शिल्प की दृष्टि से यह नाटक सुगणित, कसावपूर्ण और प्रभावशाली है।

आधे-अधूरे (1969)

ओम शिवपुरी के निर्देशन में संगीत नाटक अकादमी के पुरस्कार समारोह के अवसर पर 'दिशान्तर नाट्य संस्था' द्वारा 1969 को आधे-अधूरे की प्रस्तुति की गई थी। 1971 में कलकत्ता की 'अनामिका' रंगसंस्था ने इसका मंचन किया।

"नाट के मुख्य पात्र सावित्री की भूमिका प्रतिभा अग्रवाल ने निभाई थी। अभिनय मंजा हुआ होने पर भी उसमें सावित्री के पात्र की ट्रेजड़ी मुखरित नहीं हो पाई। चारों पुरुषों की भूमिका कृष्णकुमार ने निभाई। किन्नी की भूमिका आभा जलाल ने आश्चर्यजनक पटुता के साथ निभाई। खालिद चौधरी की मंच परिकल्पना में पूर्णता की छाप थी। अनिल साहा की प्रकाश योजना सन्तोषजनक थी।"[17]

14-10-77 को राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा अमाल अल्लान ने एक नयी एवं अन्तरंग प्रस्तुति की। ऐसे ही बाक्स सेट के साथ-साथ मुक्ताकाशी रंगमंच पर इसी विद्यालय के रंगमंडल के सदस्यों ने इसे सौ से अधिक बार प्रस्तुत किया है। राकेश

का यह नाटक मील का पत्थर साबित हुआ।

मार्च 1984 के अन्त में कलकत्ता की रंग संस्था 'पदातिक थियेटर ग्रुप' ने श्यामानन्द जालान के निदेर्शन में इस नाटक का प्रदर्शन दिल्ली के श्रीराम सेंटर में किया। नाटक की प्रस्तुति के समय नाटक का प्रमुख पुरुष अभिनेता पाँच भूमिकायें अलग-अलग वेश में कर सकता है। इसके लिये वह केवल ऊपरी वस्त्र बदलकर भी मंच पर आ सकता है। सबसे पहले काला सूट (काले सूटवाले आदमी का रोल) फिर कोट उतारकर केवल कमीज (महेन्द्र नाव की भूमिका में) फिर तीसरा बंद गले का कोट व टोपी (सिंघानिया की) चौथे आगे हाइनेक की कमीज (जगमोहन की भूमिका के लिये) और पाँचवा लम्बा कोट जुनेजा की भूमिका के रूप में कर सकता है।

रंग परिकल्पना :

देश के विविध भागों में नाटककार की रंग परिकल्पना के अनुरूप ही इसे मंचित किया गया है। केवल निर्देशकों ने ही अपने अनुसार रंग कल्पना में परिवर्तन किये हैं। "तीनों ओर से दर्शकों से घिरा मंच। मंच पर तीन धरातल। बीच वाले धरातल की लम्बी पट्टी स्टुड़ियो थ्येटर के केन्द्रीय भाग तक चली गई है। वहीं किनारे पर खाने की मेज और कुर्सियाँ रखी हैं। ऊपरी धरातल पर सोफा और नीचे के धरातल पर आराम कुर्सी। प्लास्टर उखड़ी, पुरानी भुरभुरी दिवारें तीन खम्भों पर टिका मकान (कमरा), एक खिड़की तीन दरवाजे - यथार्थवादी पायजामा, काला कुर्ता और काले मोजे पहने पंक्तिबद्ध 'कोरस' और 'नैरेटर' का प्रवेश नारी स्वर में विचित्र ध्वनि के साथ जिससे पीड़ा, करुणा और त्रासदी का आभास मिलता है - दो काठ के टुकड़ों की भोथरी मगर घनी भरपूर आवाज होती।"[18]

प्रस्तावना को तीन भागों में बाँट दिया गया है। आरम्भ में यह अनिश्चित नाटक चल रहा है, और अन्त में "आपने देखा यह एक अनिश्चित नाटक था।"

23.3.1978 को अमाल अल्लान के निर्देशन में एक बार फिर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के स्टुडियो थियेटर में इसे प्रदर्शित किया गया। प्रमुख भूमिका में मनोहर

सिंह व सुरेखा सीकरी व लड़के की भूमिका में के.के. रैना व किन्नी के रूप अनिला सिंह थी। प्रेक्षागृह पूर्ण रूप से भरा हुआ था।

जितनी बार भी इस नाटक की प्रस्तुति की गई नाटक पूर्णतः सफल रहा। इसके प्रमुख निर्देशक जिन्होंने इसकी प्रस्तुति को अनेकों बार रंगमंच पर प्रस्तुत किया उनमें सत्यदेव दुबे, श्यामानन्द जालान, मनोहर सिंह आदि प्रमुख हैं।

निर्देशन :

मोहन राकेश द्वारा लिखित इस नाटक की विशिष्टता इस बात से भी लगाई जा सकती है कि जिन प्रख्यात निर्देशकों ने इसे प्रदर्शित किया उन्होंने अलग-अलग ढंग से इसे प्रस्तुत किया। किसीने इसे पुरुषपात्र : महेन्द्र को केन्द्र मानकर इसकी अवधारणा की तो किसी ने इसमें निहित आधुनिक सामाजिक समस्या अथवा मध्यमवर्ग के टूटन और बिखराव को केन्द्र में रखकर इसकी अवधारणा की। इन भिन्न नाट्य-अवधारणाओं से हर बार मंचन में भीतरी और बाहरी बदलाव होता रहा है।

"नाटक के शुरु के कुछ प्रदर्शन बन्द प्रेक्षागृहों में हुए। जब मुक्ताकाशी 'त्रिवेणी' में प्रदर्शन की बात आई तो कुछ मित्रों ने शंका प्रकट की कि नाटक संभवतः खुले मंच के लिए उपयुक्त नहीं है। उसमें नाटक के तनाव और सघनता के बिखर जाने का खतरा है। लेकिन मेरी मान्यता है कि गंभीर नाट्य दल को दर्शक पाने के लिये नए रास्ते ढूंढने होंगे। अगर नाटक गहन, कलात्मक नाट्यानुभूति देने में समर्थ है, अगर वह जिंदगी की महत्वपूर्ण ऊथल-पुथल पर ऊँगली रखता है तो हो सकता है कि बाहर सड़क पर कुछ आहट या किसी कार के हॉर्न की आवाज मंच पर कलात्मक यात्रा में कोई रुकावट न डाल सके।"[19]

दरिन्दे

आधुनिक जीवन की दौड़ में आज आम आदमी जीने की राह में कुचली उम्मीदों के साथ बूँद-बूँद पिघल रहा है। इस संघर्ष और यात्रा का जीवंत दस्तावेज है यह

नाटक 'दरिन्दे'। 'हमीदुल्ला' कृत इस नाटक को दिसम्बर 1973 को नई दिल्ली के मांवलकार ऑडिटोरियम में केन्द्रीय सचिवालय नाट्य परिषद द्वारा आयोजित अखिल भारतीय नाट्य प्रतियोगिता में प्रस्तुत किया गया। यह नाटक सर्वप्रथम सरताज माथुर के द्वारा निर्देशित किया गया। नाटक के संवाद, अभिनय, निर्देशन सभी कुछ नये थे और यह नाटक कई स्तरों पर आज के सामाजिक यथार्थ को और विसंगतियों को बड़े सक्षम रूप से चित्रित करता है। इस नाटक को सर्वश्रेष्ठ आलेख, प्रदर्शन, निर्देशन और अभिनय के छः प्रथम पुरस्कार प्रदान किये गये। हमीदुल्ला के इस नाटक में जानवर और आदमी 'सिम्बोल' है और उनके द्वारा आज के अर्थहीन माहौल में एक नया 'शब्द-व्यापार' संवाद उपस्थित किया गया है। बेकेट और आनुई के एब्सर्ड नाटकों से प्रभावित होकर ही उन्होंने उलजुलुल प्रयोग कर सार्थक भाव लाने का प्रयत्न किया। नाटककार अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए असंगत नाटकों के तत्वों का प्रयोग करता है। प्रभाकर माचवे का मत है कि "हमीदुल्ला की सबसे बड़ी खूबी इस नाटक में यह है कि शब्दों का कम से कम और कई जगह 'बेकेट' की तरह 'आनुई' और 'जीराई' के एब्सर्ड नाटकों की तरह कलात्मक प्रयोग करके उन्होंने बहुत बड़ा सार्थक प्रभाव पैदा किया है। ... व्यंग्य और परिहास कहाँ समाप्त होता है और गंभीर नाटक कहाँ शुरु होता है इसका दरिन्दे में पता नहीं लगता। यही इसकी खूबी है।"[20]

वेशभूषा :

इस प्रयोगात्मक नाटक में स्त्री व पुरुष दो प्रतीक पात्र हैं और नाटक में कुल नौ पात्र हैं। स्त्री और पुरुष पात्र विभिन्न अवसर पर भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में आते हैं। ढोलकिया, हनी और पिग्वान वाला अपनी-अपनी इन मुख्य भूमिकाओं के अतिरिक्त अन्य भूमिकाओं में भी हैं। विक्षिप्त दार्शनिक, शेर, भालू और लोमड़ी अपने चरित्र को स्थापित करने के हावभाव के साथ-साथ अपनी वेशभूषा में आते हैं।

रंगमंच :

नाटक को छोटे-छोटे दृश्यों में विभाजित किया गया है। कोई भी अंक इसमें

नहीं है। रंगमंचीय दृष्टि से यह नाटक उत्कृष्ट है। मंच के बीच में डेढ़ फुट ऊँची और साढ़े तीन फुट लकड़ी की एक चौकी है जिसका प्रयोग पात्रों द्वारा विभिन्न अवसरों पर किया जाता है। रंग संकेत द्वारा नाटककार ने अकालसूचक प्रभाव का प्रयोग सांकेतिक किया है। सभी पात्र मुँह बाये शून्य में आकाश की ओर देखते हैं। चौकी, कुर्सी और स्टूल पर खड़े पात्र 'अकाल' सूखा-भुखा कहते नीचे उतर आते हैं और शेष पात्रों के साथ शामिल हो जाते हैं जो मंच पर यहाँ वहाँ रोटी, भूख, प्यास चिल्लाते घबराये हुए फिर रहे हैं। यह क्रम कुछ क्षणों तक जारी रखकर बादलों की गड़गड़ाहट के तुरंत बाद वर्षासूचक ध्वनि प्रभाव! सभी पात्र हर्षोल्लास से आकाश की ओर देखकर खुशी से झुमने लगते हैं। पानी और बारिश की अनेक ध्वनियाँ मंच पर फैल जाती हैं।

देश में सूखा और गीला दोनों प्रकार का अकाल है। सर्वसामान्य व्यक्ति को जिन्दा रहना मुश्किल हो रहा है। सुरक्षा की भावना खत्म होती जा रही है।

प्रकाश योजना :

नाटककार ने प्रकाश योजना तथा ध्वनि प्रभाव तथा फ्रिज़ मायमिंग का पर्याप्त प्रयोग इस नाटक में किया है। दृश्य परिवर्तन के लिये भी विशेष प्रकार का संगीत बजाया जाता है। अंतमें दार्शनिक संकेत करता है कि एक ही क्रम की पुनरावृत्ति होती रहेगी। स्थिति वैसी ही बनी रहेगी। परिवर्तन नहीं होगा। लोग ऐसे ही अभाव में जीते रहेंगे।

त्रिशंकु :

बृजमोहन शाह के 'त्रिशंकु' नाटक में मंच सज्जा प्रतीकात्मक है। मंच विधान पृष्ठ, मध्य और अग्र इन तीन भागों में विभक्त है। मंच पर सबसे पीछे दो दिशा सूचक जो युनिवर्सिटी और एम्प्लॉयमेन्ट के लगे हैं। दोनों दिशा सूचकों के मध्य में एक प्रश्न चिन्ह बना हुआ है। यह प्रश्नचिन्ह आधुनिक पढ़े-लिखे बेरोजगार युवकों का सार्थक है जो विश्वविद्यालय की डिग्री और रोजगार कार्यालय के बीच में पौराणिक चरित्र

त्रिशंकु की भाँति लटका हुआ है। मंच के मध्य भाग में एक चंद्राकार तख्त है और मंच के अग्र भाग में तीन-चार कुर्सियाँ, एक स्टुल और तीन-चार पेटियाँ हैं। इसके अलावा एक कुड़ादान हमारे दफ्तर "आधे बाँटे खेडी" के पट्ट, तथा एक लाल झण्डी भी है जो मंच पर नाट्य की प्रस्तुति के समय बीच-बीच में अपनी उपयोगिता को सार्थक करती है व नाटक को सफल बनाती है।

लोकनाट्य, परम्परागत नाट्यशैली और आधुनिक नाटकीय टेकनीक के समन्वय का सुंदर प्रयोग बृजमोहन शाह कृत 'त्रिशंकु' में किया गया। केवल शीर्षक ही मिथक है बाकी सर्व आधुनिक परिवेश के रूप में चित्रण किया गया है।

प्रस्तुत नाटक में रंगला-रंगली सूत्रधार बनकर नाटक का प्रारंभ अपने नृत्य और भाषणों से करते हैं। नाटक के प्रारंभ होने पर जनता में कोलाहल होता है। वह कुछ नया देखना चाहती है। पुराना नहीं चाहती। नाटककार जनता में से ही पात्र चुनता है। नाटक का मुख्य पात्र नेता बनना चाहता है। वह कहता है -

"मैं जनता का दास, दासानुदास, जनसेवक, समाज सुधारक.... ।"[21]

इसके बाद अफसर नाटककार से कहता है कि -

"मैं मुख्य पात्र हूँ क्योंकि देश की व्यवस्था में प्रशासन में मेरा सबसे बड़ा हाथ है। क्योंकि मैं सदा अपने रिश्तेदारों के, दोस्तों के, मिनिस्टरों के आदमियों के लिये बेमतलब जगह बनाता और काबिल से काबिल उम्मीदवारों को निराश करता रहा। एक से एक बड़े दफ्तरों में भरते चले गये। दफ्तर घूसखोरी और कामचोर के अड्डे बने हुए हैं।"[22]

नाटककार ऐसे पात्रों को लेकर आया है जो जनता के बीच ही हैं। किसी भी पात्र को केन्द्र में रखकर नाटक को गढ़ा नहीं गया है।

आठवें दशक के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग :

हिन्दी नाट्य रंगमंच आठवें दशक में कथ्य, शिल्प, रंगतत्व आदि सभी

दृष्टियों से अधिक समृद्ध हो गया। हिन्दी रंगमंच में 1970 के बाद बृजमोहन शाह हिन्दी के प्रयोगधर्मी नाटककार के रूप में स्थापित हुए। लोकनाट्य, परम्परागत शैली और आधुनिक शैली के नाटकीय टैकनीक के समन्वय का प्रयोग उन्होंने अपने नाटकों में किया। उनके नाटकों में -'शाह ये मात', 'युद्धमन', 'त्रिशंकु' आदि नाटकों का कथ्य रूप जहाँ आधुनिक जीवन से संदर्भित है वहीं नाट्यशिल्पों का नवीन प्रयोग भी उन्होंने किया। श्री नरनारायण का कथन है- "1978 ई. तक दृश्यबन्ध के चौखटे का यथार्थवादी प्रभाव हिन्दी नाटकों पर छाया रहा। इस अवधि के अन्तराल में जितने भी नाटक लिखे गये उन सबों का घटना स्थल किसी कक्ष का कमरा, या बरामदा अवश्य रहा है। यानि नाटक में निहित घटनाओं को घटाने के लिये एक कार्यस्थल का चुनाव, ऐसे कार्यस्थल का चुनाव जो यथार्थ प्रतीत हो। आगे चलकर यथार्थवादी दृश्यबन्ध और रंगमंच बन गया। दृश्यबन्ध का यह चौखटा हिन्दी नाटक और रंगमंच पर इस कदर हावी हुआ कि नाटक के प्रदर्शनों के लिये तैयार किये जाने वाले कक्षों, आँगनोंवाला यह दृश्यबन्ध रंगमंच का पर्याय बन गया, जो नाटक के समाप्त हो जाने के बाद भी ज्यों का त्यों बना रहता था। इसलिये अनायास ही लोगों की धारणा बनती गयी कि रंगमंच कुछ और ही वस्तु है तथा नाटक कुछ और। उसी सिलसिले में भ्रमवश रंगमंच और नाटक को अलग-अलग समझ लिया गया।"[23]

मोहभंग, यांत्रिक विवशता, परिवार, समाज, प्रेम विवाह, जाति, रहन-सहन, खान-पान, संस्कृति-धर्म, राजनीति आदि विषयों पर लिखे जाने वाले नाटकों की एक लम्बी परम्परा इस दशक के समय रही। इन प्रसंगों को लेकर चलनेवाले नाटककारों ने प्रेरणास्पद रचनाओं से नाटक साहित्य एवं रंगमच को एकबार फिर जीवन देने का प्रयत्न किया। विदेशी आक्रमणों ने इसे एक नया मोड़ देने में अहम् भूमिका निभाई जिससे भारतीय जनता के हृदय में देशप्रेम के प्रति अपनी भावनाओं को संचारित करने का मौका मिला।

आठवें दशक में देशभक्ति के ऊपर जिन नाटककारों ने नाटक लिखे उनमें ज्ञानदेव अग्निहोत्री हिन्दी के ऐसे नाटककार रहे जो नाट्य यात्रा के प्रथम पड़ाव पर

ही भारतीय रंगमंच की पहचान बन गये। उनके पहले नाटक 'नेफा की एक शाम' के प्रदर्शन के दौरान रंगमंच ने ही उन्हें उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य का यह पहला नाटक है जिसकी मंचीय प्रस्तुति 1500 से अधिक बार हुई। नाटककार ज्ञानदेव अग्निहोत्री को इसी नाटक के लिए पाँच राज्य पुरस्कारों द्वारा तथा केन्द्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के विशेष पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उसके बाद माटी जागी रे, शुतुरमुर्ग, वतन की आबरू, आदि को रंगमंच की दृष्टि से काफी सफलता मिलने लगी। आठवें दशक में आकर प्रयोगधर्मिता की श्रेणी में पद्य नाटकों को भी लिखा गया।

आठवें दशक के प्रारंभ कई नाटकों को सड़क पर रंगमंचीय प्रयोग के साथ खेला गया। इनके सातवें दशक के लिखे हुए कई नाटक थे जैसे - जादू बंगाल का, तलघर, कॉफी हाऊस, वसंत ऋतु का नाटक, सिंहासन खाली है, यक्ष प्रश्न, बकरी, आदि।

रतलाम की युगबोध नाट्य संस्था के तत्वाधान में हेमेन्द्र शुक्ल के निर्देशन में 20 फरवरी 1980 को 'किसी एक फूल का नाम लो' नाटक मंचित किया गया था। यह नाटक अनुवादित नाटक था। जो प्रसिद्ध गुजराती नाटककार श्री मधुराय द्वारा लिखित तथा ज्योती व्यास द्वारा अनुदित था।

इस दशक में नाटकों में जिनमें एक भी अंक नहीं होता वह नाटक समय की सीमा में रहकर ही खेला जाता। इन्हें ज्यादा लम्बा नहीं खींचा जाता था। जैसे दुलारी बाई, योर्स फैथफुली, आज नहीं कल, लोटन आदि। इसका कारण यह था कि इस व्यस्त जीवन में समयाभाव के कारण छोटे नाटक दर्शक पसंद करने लगे थे।

"ग्रामीण एवं आंचलिक कथाओं से जुड़े होने के कारण ये छोटे नाटक बड़े सफल होते हैं। जीवन की बढ़ती व्यस्तताओं के कारण ढाई-तीन घण्टे की समयावधि तक न तो दर्शकों को बाँधे रखना सम्भव होता है, न नाटककारों में हमेशा इतना बड़ा

नाटक खेलने की प्रेरणा जगती है। वे तो केवल गाँव की किसी भी समस्या को लेकर उनकी भाषा व संस्कृति को ध्यान में रखकर एक नाटक प्रस्तुत कर देते हैं। इसके लिए वे दृश्यों एवं अंकों का सहारा नहीं लेते।

बकरी :

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना द्वारा लिखित नाटक 'बकरी' एक राजनैतिक व्यंग्य नाटक है। यह नाटक गाँधीवादी सिद्धांतों का प्रतीक है। स्वाधीनता के बाद अपने आप को जनता का सेवक कहने वाले नेतागण भोली-भाली, धर्मभीरु तथा अशिक्षित जनता को लूट रहे हैं। यह विदेशी दासता से मुक्त भारत की गरीब जनता के लिए अपने नेताओं द्वारा छले जाने की शुरुआत थी। यह विड़म्बना ही रही कि छलने के सबसे ज्यादा तरीके नई सत्ता ने उससे सीखे जिसने राजनीति में चरित्र का महत्व स्थापित करना चाहा था। इस नाटक में दो अंक हैं और प्रत्येक अंक में तीन-तीन दृश्य हैं।

नाटक का आरंभ भूमिका दृश्य से होता है। संस्कृत नाटकों की तरह इसमें नट-नटी मंगलाचरण से नाट्य प्रारंभ करते हैं। नौटंकी गायन शैली में इसके गीतों को लिखा गया है। नाटककार ने लोकनाट्यों के गीत-संगीत पक्ष से बहुत कुछ लिया है। समूहगान, लोकगीत शैली के कुछ छंद, कोरस, वंदना आदि के अलावा दोहा, चौबाला दोड़ एवं बेहतरबील भी न्यूनाधिक रूप से नाटक में परिलक्षित होते हैं।

प्रारंभिक वंदना का उदाहरण देखिये -

"सदा भवानी दाहिने सम्मुख रहे गणेश
पाँच देव रक्षा करे ब्रह्मा,विष्णु, महेश
पाँच देव सम पाँच दल लगी ढोंग की रेस
जिनके कारण हो गया देश आज परदेस।"[24]

चौबाला का उदाहरण -

करु स्वांग प्रारंभ आसरो हमको मातु तुम्हारो।"[24]

पारसी नाटकों के अंशों का इस पर प्रयोग किया गया। मंगलाचरण में

राजनीतिक संदर्भ देकर उसे समसामयिक बनता है। प्रत्येक दृश्य के प्रारंभ में 'नट-गायन' की योजना की गई है। 'नट-गायन' वास्तव में दृश्य-दृश्य के बीच की कड़ी है। वह घटनाओं से केन्द्रित रहता है और आगे की घटनाओं की पूर्वसूचना देने का कार्य भी करता है।

यह नाटक जन सामान्य का नाटक है जो सामान्य जनता की भाषा में लिखा गया है। इसलिये केवल 'बकरी' के प्रतीक को छोड़कर सर्वत्र अभिधात्मकता के ही दर्शन होते हैं। बौद्धिकता, प्रतीकों की जटिलता, शिल्पगत चमत्कार और भाषा की कारीगरी के दर्शन से नाटककार बचा है।

शिल्पगत कसाव और चुस्त दुरुस्त नाटक लिखने का आग्रह नाटककार का नहीं है। संरचना का यह लचीलापन निर्देशक की कल्पनाशीलता और प्रतिभा के लिए पर्याप्त अवकाश प्रदान करता है। प्रस्तुति के स्थान और समय के अनुकूल इसमें सामयिक तथा स्थानीय संदर्भों एवं प्रसंगों का समावेश इसे रोचक तथा समकालीन बना सकता है।

"पिछले तीन वर्षों में 'बकरी' के तीन सौ से अधिक प्रदर्शन हो चुके हैं। सर्वाधिक प्रदर्शन 'इप्टा' बम्बई ने एम.एस. सत्यु के निर्देशन में किये। वहाँ इसकी रजत जयन्ती मनाई गई। इतना ही नहीं जहाँ यह नाटक हिन्दी की बोलियों की ओर बढ़ा है यानि ब्रजभाषा, छत्तीसगढ़ी और कुमायूंनी में खेला गया है, वहाँ यह देश की प्रादेशिक भाषाओं में खेला जा रहा है। बैंगलोर में कन्नड़ में इसकी प्रस्तुति प्रसन्ना ने की जहाँ भारी विवाद के बावजूद इसके प्रदर्शन हुए और हो रहे हैं। कन्नड़ में भी इसका निर्देशन एम.एस. ने ही किया। उड़िया और गुजराती में भी यह नाटक खेला जा रहा है। मॉरिशस में इस नाटक के खेलने पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। अनेक स्थानों पर नाटक खेले जाने के बाद दर्शकों और कलाकारों में मुठभेड़ का कारण है और जमकर वाद-विवाद हुआ है। कहीं-कहीं नाटक खेलने से भी रोका गया है और रंगकर्मियों ने डटकर उसका सामना भी किया है। फिर और संगठित होकर खेला है।

"ये तमाम घटनायें यह दिखाती हैं कि यह नाटक देश की वर्तमान राजनीतिक स्थिति में और अधिक सार्थक हो उठा है और इस स्थिति से टकरानेवाली और मुँह चुरानेवाली ताकतों का और अधिक ... करता है। गाँधीवादी का मुखौटा लगाकर आज भी सत्ता की राजनीति की जा रही है। और देश की जनता को छला जा रहा है।"[25]

कुल मिलाकर यह नाटक रंगमंच की सर्वव्याप्ति की सम्भावनाओं को उजागर करने में सफल रहा है तो दूसरे स्तर पर यह नाटक हिन्दी के व्यंग्य प्रधान नाटकों को एक नया आयाम देता है।

"एक स्तर पर रंगमंच का कला की कसौटी पर भी खरा उतरते हुए सामयिक यथार्थ से, राजनीति से जुड़ने की तमीज सिखाता है तो दूसरे स्तर पर उन तमाम तकनीकी जटिलताओं को फोड़ने की क्षमता प्रदर्शित करता है जो जन साधारण को अभिजात्य वर्ग से, गाँव को शहर से दूर रखने में सहायक होते रहे हैं।"[26]

नाटक में गाँधी के व्यक्तित्व को आधार बनाकर गाँधी की बकरी को प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण किया।

करफ्यू (1971)

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा लिखित सामाजिक मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह लगाने तथा नर-नारी अथवा पति-पत्नी के कामसंबंधों के बदलते हुए स्वरूप को नये नाट्य शिल्प में प्रस्तुत करने वाला तथा वैवाहिक जीवन पर करारा व्यंग्य करने वाला नाटक 'करफ्यू' का रचनाकाल 1972 है।

नाटककार ने इसमें सांकेतिक शैली में बाहर के करफ्यू को मनुष्य के भीतरी करफ्यू से जोड़ा है। वह करफ्यू है सभ्यता, संस्कृति, मर्यादा एवं नैतिकता का और यही करफ्यू समाज और व्यक्ति के मन में अनेक विकृतियाँ पैदा करती है।

गौतम-मनीषा और संजय-कविता यानि मर्द-औरत के दो अलग-अलग जोड़े किस प्रकार करफ्यू के कारण रातभर साथ-साथ रहने को विवश हो जाते हैं और कैसे एकदूसरे के सांनिध्य से अपनी मान्यताओं, सीमाओं, संस्कारों, शर्तों और जकड़नों के भीतरी करफ्यू से मुक्त होते हैं, यह स्थिति अत्यन्त उत्तेजक और नाटकीय है। इसी स्थिति के माध्यम से नाटककार ने औरत-मर्द के आपसी रिश्ते की बुनियाद की तलाश की है।

नाटक पढ़कर लगता है कि नाटककार ने सभी समस्याओं का हल फ्री सेक्स में ही देखा है। सतही शारीरिक कामतृप्ति के बाद सत्य, मुक्ति, आत्मा-साक्षात्कार जैसे गहन विषयों पर चर्चा करने वाले ये पात्र एकदम झूठे, अविश्वसनीय, बनावटी और हिपोक्रेटिक लगते हैं। कई स्थानों पर ऐसी संवाद योजना है जिसका उद्देश्य समझ में नहीं आता :

संजय : सुनो तो

कविता : सुनो तो

संजय : तुम पहले

कविता : तुम पहले

संजय : मैं पूछ रहा था

कविता : मैं पूछ रही थी

संजय : आज सारी रात यही होगा।

कविता : आज सारी रात यही होगा ।

संजय : देखो, बोर मत करो।

कविता : देखो, बोर मत करो।

इसकी पहली प्रस्तुति अभियान नाट्य संस्था द्वारा आइफेक्स के मंच पर नयी दिल्ली में 12 नवम्बर 1972 को हुई।इसके बाद इसके कई प्रदर्शन पूरे भारतवर्ष में हुए। गुजराती, मराठी, बंगला और अंग्रेजी भाषाओं में इनके अनुवाद हुए।

'दर्पन' नाट्य संस्था द्वारा बन्सी कौल के निर्देशन में कानपुर और लखनौ में इसका प्रदर्शन किया गया तथा कलकत्ता में 'यवनिका' में कृष्णाकुमार के निर्देशन में इसका प्रदर्शन हुआ। रंगमंडल द्वारा गुजराती भाषा में अहमदाबाद और दिल्ली में राजूभाई के निर्देशन में इसका प्रस्तुतिकरण किया गया।

इस नाटक के प्रथम प्रस्तुतिकरण के समय रंगमंच पर एक पिंजरा बनाया गया और उस पिंजरे के भीतर ही नाटक के सभी दृश्य प्रस्तुत किये गये। रंगमंच पर पिंजरा पात्रों की स्थितिजन्य बंधन अवस्था को दर्शाता हैं।

"कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि करफ्यू अंशों में सशक्त प्रभावपूर्ण और उत्तेजक है। परन्तू सम्पूर्णता में उतना सफल नहीं हो पाता। काश! डॉ. लाल ने इसके कथ्य को सीमित से असीमित तक प्रक्षेपित करने का प्रयास न किया होता।"[27]

'अभियान' नाट्य संस्था द्वारा 1971 को टी.पी. जैन के निर्देशन में यह नाटक खेला गया। सुधा चौपड़ा, श्याम अरोड़ा, कविता नागपाल इसके रंगकर्मी थे। कुल मिलाकर इस प्रदर्शन से कोई स्मरणीय अनुभूति नहीं हुई।

शीतांषु मुखोपाध्याय ने अपने नाटकों के प्रकाश संयोजन में रंगों का प्रयोग इस प्रकार किया कि नाटक का मंचन यथार्थ रूप में लगे। 'बाकी इतिहास', 'गिनी पिग', आदि में रंगों का प्रयोग इतना नहीं हुआ जितना उन्होंने करफ्यू में रंगों का प्रयोग किया।

"इस नाटक की प्रकाश योजना बड़े सावधानी से बनानी पड़ी थी। प्रकाश योजना के पीछे चबूतरे के दोनों ओर दो स्पॉट बत्तियाँ थीं - एक लाल रंग की और दूसरी हल्के नीले रंग की। बीच के हिस्से में दो हरे रंग की बत्तियाँ। सामने का प्रकाश भी मुख्यतः दो और से, दो-दो स्पॉट बत्तियाँ, इस्पाती नीले और गहरे नारंगी रंग की। बीच की कुर्सी पर एक लाल और ऊपर की छत पर एक सफेद बत्ती। इसके अलावा नाटक के शुरु और अंत में निश्छलता (फ्रिज) के दृश्य थे। उनके लिये तीन अलग बत्तियाँ

छड़ के ऊपर लगाई थी, गुलाबी, बैंगनी और पीले रंग की। इस नाटक में रंगों का इस्तेमाल कुछ अधिक ही किया गया था। अन्य नाटकों में आम तौर पर यह नहीं होता। इसमें युवक-युवती को हरा रंग दो कारणों से दिया गया। यौवन का रंग हरा माना जाता है । "और मैं बंदीघर के अंधाकर को भी हरे रंग द्वारा सूचित करना चाहता था। इस्पाती नीला ठंडी कठोरता के आभास के लिये इस्तेमाल किया गया।"[28]

घासीराम कोतवाल (1971)

'घासीराम कोतवाल' ऐतिहासिक नाटक है। नाटक की सामग्री कच्चा मसाला इतिहास से बटोरा गया है। इतिहास का क्षीण-सा आधार अवश्य लिया गया है पर इसके आगे नाटक का इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है और कच्चा मसाला भी ठीक उसी तरह इतिहास से लिया गया है जिस तरह समसामयिक जीवन स्थितियों से भी लिया जाता है।

मार्च 1973 में वसंतदेव के इस श्रेष्ठ अनुवाद को अक्टूबर 1973 में 'अभियान' द्वारा हिन्दी में प्रथम बार प्रस्तुत किया गया। यह एक युगीन नाटक है। सिर्फ इस अर्थ में कि इसका समय 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों का पेशवाकाल है। लेकिन एक महत्वपूर्ण अर्थ में यह नाटक इस काल से परे का है।

लेखक का मानना है - "महाराष्ट्र में पेशवाओं का राज्य था; नाना फड़नवीश पेशवाओं के प्रधान थे। कोई एक घासीराम था, ब्राह्मण थे, मराठा सरकार थी। और वे सब इकाइयाँ अपने-अपने दायरे में बँधी समय के प्रवाह में लकड़ी के लट्ठे की भाँति कभी सटकर तो कभी हटकर, कभी तो परस्पर को छूती तो कभी टकराती अप्रतिहत प्रभावित हो रही थी। उनका यह कार्यकरण उचित था या अनुचित, या उनका मूलभूत अस्तित्व सार्थकतायुक्त था या नहीं इसकी खोजबीन करना इतिहास की शोध करने वाले व्यक्ति का काम हो सकता है, नाटककार का नहीं। मैं इसी कारण घासीराम को एक अनैतिहासिक नाटक मानता हूँ।"

'घासीराम कोतवाल' एक किंवदन्ती, एक जनश्रुति, एक दंतकथा है। और दन्तकथा का अपना रचना विधान होता है। झीने यथार्थ को जब हम अपनी नैतिकता से रंजित कर कल्पना की सहायता से पुनरुज्जीवित करते हैं तो एक दन्तकथा बन जाती है। दन्तकथा गप्प भी है और देखने की दृष्टि से तो एक दाहक अनुभव भी। दाहक अनुभव ही रचनात्मक साहित्य बन पाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु दन्तकथा क्या होती है और कैसी होती है इससे ज्यादा महत्व की बात यह है कि हम उसे किस तरह लेते हैं, क्योंकि तभी हम अपनी जाँच पड़ताल करते हैं।

लेखक का कथन है "मेरी निगाह में 'घासीराम कोतवाल' एक विशिष्ट समाज-स्थिति की ओर संकेत करता है। वह समाज-स्थिति न पुरानी है और न नई। न वह किसी भौगोलिक सीमा-रेखा में बँधी है, न समय से ही। वह स्थल कालातीत है; इसीलिये 'घासीराम' और 'नाना फड़नवीश' भी स्थल कालातीत हैं। मैंने जानबूझकर (नाटक में) दूसरी (लोक) रीति अपनाई है। लोकनायक का लचीलापन विख्यात है और दन्तकथा के प्रस्तुतिकरण के लिये सबसे अधिक उपयोगी है। लोकनाट्य की इस विशिष्टता को मैं क्यों छोड़ देता?"[29]

नाटक का कथानक मंच पर ही पूरी तरह जीवंत होता है। 'घासीराम कोतवाल' नाटक पढ़ने में ठीक-ठीक समझ में नहीं आता कि इसके चरित्रों में कौन महत्वपूर्ण हैं। दर्शकों का ध्यान 'नाना' और 'घासीराम' के चरित्रों में उलझ कर रह जाता है और महत्वपूर्ण पहलुओं पर से उनका ध्यान हट जाता है। इसलिये नाटक सिर्फ नाटक ही होता है। वह साहित्यिक कलाकृति होने पर भी उसे ऐतिहासिक, पौराणिक या सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परखना बेमानी होगा। समय के साथ नाटक और उसकी कथावस्तु को सामाजिक से ऐतिहासिक और ऐतिहासिक से पौराणिक बनाया जा सकता है।

'घासीराम कोतवाल' का मंचन पहले तो लोकनाट्य के रूप में ही हुआ क्योंकि यह एक युगीन नाटक था। सिर्फ इस अर्थ में कि इसका समय अठारहवीं शताब्दी के

अन्तिम वर्षों का पेशवाकाल था।

प्रथम प्रस्तुतियों मे तो नाटककार उस युग के वातावरण की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के प्रयत्न में लगे रहे और नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिये अपने प्रदर्शनों में नाटक के कुछ पहलुओं पर ही जोर देते रहे। परन्तु नाटक के उद्देश्य को प्रभावशाली बनाने के लिये पारम्परिक लोकनाट्य शैली में इसके सभी तत्वों को उपयोग में लाने का प्रयत्न नये निर्देशकों ने किया। विशेषकर एक अल्प परिचित कोंकणी लोकनाट्य रूप और दशावतार का।

निर्देशक राजिन्दरनाथ ने मार्च 1974 में इश नाटक के मंचन के अवसर पर अपने वक्तव्य में कहा था -
"आज पीछे देखते हुए लगता है कि मेरी पृष्ठभूमि और प्रकृतिवाले व्यक्ति के लिये यह निर्णय सही था। इस लोकनाट्य की प्रक्रिया में आलेख से कम से कम एक प्रमुख अंतर आया है जो मुझे फिर इंसानी परदे के इस्तेमाल पर ले आता है। आलेख में इंसानी परदा बनानेवाले कलाकार कई जगहों पर स्थिर या गतिशील परदा बन जाते हैं। लेकिन प्रदर्शन में इसका इस्तेमाल मूलतः परदे के रूप में नहीं (वस्तुतः केवल तीन-चार जगहों पर ही इसका परदे के रूप में इस्तेमाल हुआ है) बल्कि एक सामूहिक मानवीय उपस्थिति के रूप में हुआ। मेरे विचार में इससे अन्ततः पूरे पतनशील समाज पर बल देने में मदद मिली, न किसी एक पात्र पर। कुछ जगहों पर जहाँ आलेख परदे के व्यवहार की माँग करता था, मैंने दो धरातलों पर निश्चलता (फ्रीज़) और गति का साथ-साथ प्रयोग किया।"

नाटक की प्रस्तुतियों में कई बार बदलाव आये। नये नाटक निर्देशकों ने इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकारा और कई सफल प्रदर्शन किये। इसकी प्रस्तुति जहाँ एक खतरों भरा काम था वहीं इसी नाटक में खतरा बहुत ज्यादा था लेकिन इसकी परवाह किये बगैर इसको एक सफल नाट्य प्रस्तुति के रूप में लिया गया। बीस वर्षों बाद भी यह नाटक मंचित होता चला आ रहा है। बीस साल बाद भी यह नाटक आज

के हालात में और ज्यादा प्रासंगिक बनता जा रहा है।

मई 1993 में रा.ना. वि. रंगमंडल द्वारा प्रस्तुति मे परिकल्पना कमोबेश प्रथम प्रस्तुति जैसी ही थी केवल एक अन्तर के साथ कि इसमें अब एक सूत्रधार की जगह दो सूत्रधार नाटक में मौजूद थे। रामगोपाल बजाज जिन्होंने उस प्रथम प्रस्तुति में 'घासीराम' की प्रमुख भूमिका निभाई थी आज वे मौजूदा प्रस्तुति में एक अन्य भूमिका निभा रहे हैं और अन्य कलाकार सभी नये हैं।

प्रोडक्शन टीम भी लगभग वही थी किन्तु समय-समय पर प्रस्तुतियों में उन्होंने नये-नये किन्तु बहुमूल्य अतिसूक्ष्म योगदान रंगमंच को दिये।

रंगमंच पर उनके ये प्रयोग हर बार की प्रस्तुतियों में एक जैसी तो नहीं रहती पर उनका योगदान काफी हद तक इससे जुड़ा रहता है।

आकाश झुक गया (1975)

'आकाश झुक गया' नाटक में तीन अंक व एक दृश्य है। इसमें उन्होंने पारम्परिक मंच-सज्जा का प्रयोग ही किया है। मंच के पीछे वाले भाग में विश्राम तथा साधना कक्ष है। आगे वाले भाग में नाटक से सम्बन्धित वस्तुयें रखी हैं जो सांकेतिक और आकर्षक हैं। नाटक के मंचन के लिये मध्यम आकार का मंच सही होगा। जहाँ आसानी से नाटक से सम्बन्धित वस्तुओं को जमा कर रखा जा सकता है।

एक कुर्सी और उसके पास ही साधारण कुर्सी, बीच में एक टेबल उसके उपर गुलदस्ता, ऐश ट्रे, कॉल-बेल, चरस-गांजा के दो-तीन डिब्बे और एक पर्स है। टेबल के पास ही एक स्टेण्ड रखा गया है जिस पर बहुत सारी चिलमें भरी हुई हैं। कमरे के सामने वाली दीवार पर बड़े अक्षरों से 'मैं' लिखा है जो समाज के स्वार्थपरक आधुनिक रूप का प्रतीक है। और दूसरा चित्र 'चिलम' का बना हुआ है जो सांसारिक कामनाओं के प्रतीक के रूप में दर्शकों के सामने आता है।

डॉ. चन्द्र ने अपने इस प्रयोगशील नाट में रूप-सज्जा, वेशभूषा, मेकअप आदि का प्रयोग बड़े ही सोच-विचार के पश्चात किया। इसके प्रयोग से डॉ. चन्द्र में एख नाटकीय निर्देशक के गुणों को परखा जा सकता है। महंत स्वामी युगानन्द का चरित्र पाखण्ड से भरा है। वह अधुनातन वेशभूषा में है। और तो और उसके शिष्य आधुनिक वस्त्र पहनने में विश्वास रखते हैं तथा अपने सौंदर्य को बनाये रखना चाहते हैं। वासनाकुमारी और प्रेम कुमारी तो मंच पर ही महंत के सामने होठों पर लिपस्टिक लगाती हुई तथा आई ब्रो पेंसिल से अपनी भौहों को ठीक करती हैं तथा हमेशा उनकी आंखों में नशा व मादकता छलकती रहती है, और जम्हाई लेती है। वह कभी स्लीव कुर्ता पहनती है तो कभी बेलबाटम व शर्ट पहनकर ही स्वामीजी के पास जा बैठती है। ऐसे ही मौजीलाल भी फैशन करने में कम नहीं है। वह भी सामान्य वस्त्र उतारकर कीमती वस्त्रों को पहनने लगता है। विद्यार्थी, प्रोफेसर, नेता, व्यापारी, साधु आदि सभी पात्र आधुनिक वेश में ही मंच पर आते हैं। नाटककार व निर्देशक ने पात्रों के हावभाव, रूपसज्जा आदि से नाटकीय आकर्षण उत्पन्न करने का सफल प्रयास किया है।

ध्वनि :

नाटक में ध्वनि का उपयोग बड़े ही सीमित मात्रा में किया गया है। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि ध्वनि की विशिष्टता को पूर्ण रूप से नकार दिया गया है। जहाँ कहीं जरूरत हुई, वहीं पार्श्व ध्वनि का सार्थक प्रयोग किया गया है। किन्तु एक विशेष बात यह है कि इसमें संगीत वाद्य ध्वनि की योजना नहीं है। किन्तु आज आधुनिक निर्देशक अपने नये प्रयोगों में संगीत ध्वनियाँ, नारे आदि को नये रूप में पेश कर सकते हैं। एक नाटक में 'मैं नाम सत्य है, मैं कहे मुक्ति है' के बीच नगाड़े का प्रयोग सफल निर्देशक कर सकता है। दूसरे पार्श्व ध्वनि में जब स्वामी को मारने की बात बोलते हुए 'मारो स्वामी को मारो, ये भ्रष्ट है, इसके मठ को जला दो, यह भ्रष्टाचार फैलाता है' के साथ-साथ ढोलक-नगाड़े आदि का प्रयोग किया जा सकता है। सूत्रधार जब अपने संवाद मुक्त छन्दों में बोलता है तब भी ध्वनि का प्रयोग किया जा सकता

है। अतः कह सकते हैं कि 'आकाश झुक गया' नाटक में पार्श्व ध्वनि की योजना प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्थापित की गई है।

प्रकाश-संयोजन :

प्रकाश संयोजन में वैविध्य है व इसकी कलात्मकता ने रंगमंच का कायाकल्प ही कर डाला है। नाटक के प्रारंभ में ही जब पर्दा खुलता है तो सूत्रधार के प्रवेश होने पर प्रकाशवृत्त उसी पर केन्द्रित होता है। प्रकाशवृत्त उसके साथ साथ ही आगे बढ़ता जाता है। किन्तु मंच पर रखी हुई कोई भी वस्तु उस प्रकाश में नहीं दिखती है। रंगकार्य संचालन प्रकाश और छाया के माध्यम से ही किया गया है। नाटक के अंत में दर्शक कक्ष की लाईट बंद है और प्रकाशवृत्त सूत्रधार के ऊपर ही केन्द्रित रहता है। दृश्य के प्रारंभ होने पर भी सम्पूर्ण प्रकाश मंच पर होता है। और नाटक के उद्देश्य को पूर्ण रूप से दर्शकों तक पहुँचाता है। इस नाटक के बीच में कहीं रंगीन प्रकाश को प्रयोग में नहीं लाया गया है। यह प्रकाश योजना नाटक में सहज साधारण ही रहती है।

भाषा शिल्प, संवाद, अभिनय : भाषा शिल्प की दृष्टि से यह नाटक सशक्त रूप में सामने आता है। बोलचाल की भाषा में कहीं-कहीं अंग्रेजी, उर्दू भाषा का व्यवहार हुआ है। संवादों में ध्वन्यात्मकता है। जैसे - "मैं अपने सम्पूर्ण शिल्पों में हूँ, और सम्पूर्ण शिल्प मुझ में हैं। मेरा यह मत 'मैं' के संसार में है और 'मैं' का संसार मेरे मठ में है।" इन संवादों में गति होने के कारण भी ये रोचक बने पड़े हैं। जिससे इन छोटे-छोटे सहज प्रभावपूर्ण संवादों को बोलने के लिये मंच पर कोई कठिनाई नहीं होती और उनमें व्यंग्य साफ-साफ स्पष्ट हो जाता है।

स्वामी : जब जनता की आँखों में धूल नहीं झोंक सकते तो नेता कैसे?

सेवकराम : (आश्चर्य से) धूल नहीं झोंक सकते...

स्वामी : और क्या! जनता की आँखों में धूल झोंकते रहो, उसे कुछ दिखाई न पड़े। बस तुम्हारी कुर्सी सलामत है। यदि जनता की आँखें खुल गईं

तो तुम्हारी खैर नहीं।

प्रो. पूर्णचन्द्र मित्रा लिखते हैं - "संवाद बिलकुल स्वाभाविक जीवन से उठाये गये हैं। यही कारण है कि बड़े स्वाभाविक हैं। नाटक देखने से दर्शक ऊबता नहीं है। यह नाटक की सबसे बड़ी सफलता है।"[30]

26 अप्रैल 1977 को आकाशवाणी रायपुर पर इस नाटक को प्रसारित किया गया। फिर बाद में इसका सफल मंचन रायपुर में ही रंगमंच पर होता रहा।

1-15 फरवरी 1979 को इसका मंचन बीकानेर में किया गया था यहाँ पर भी यह नाटक सफल रहा था।

बिलासपुर की रंगमंच संस्था ने डॉ. चन्द्र के इस नाटक को जब रंगमंच पर प्रदर्शित किया तब यह अत्यधिक चर्चा का विषय बना रहा।

डॉ. चन्द्र के अन्य नाटकों में 'आकाश झुक गया', 'कुत्ते', 'भस्मासुर अभी जिन्दा है', 'अक्षयवर' आदि हैं जिसे कई स्थानों पर प्रदर्शित किया जा चुका है। इन्होंने अपने प्रयोगशील नाटक रंगमंच को ध्यान मं रखकर ही लिखे तथा विभिन्न रंग-तकनीक और अभिनय कौशल का उपयोग अपने नाटकों में किया है।

अन्धों का हाथी (1976)

शरद जोशी द्वारा लिखित दूसरा व्यंग नाटक 'अन्धों का हाथी' 1976 को गर्मियों में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की ओर से जमील अहमद के निर्देशन में मंचित हुआ। और बाद में इस संस्था ने 'एक माह मे छत्तीस प्रदर्शन' वाले महत्वाकांक्षी नाट्य समारोह में इस नाटक को प्रस्तुत किया।

नाटक बिना किसी तामझाम के खुले मंच पर सरलता से मंचित किया जा सकता है। इसमें केवल छः पात्र होने से प्रवेश प्रस्धान में सुगठितता है। सूत्रधार

केवल मंच पर प्रवेश प्रस्थान करता है। बाकी चार अन्धे और एक अन्धी मंच पर ही रहते हैं -

"तो मित्रों, मंच पर हाथी! नाट्यकला के इतिहास में यह स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने वाली घटना है। मगर यदि वह आपको नजर नहीं आया तो? तो आप सब अन्धे हैं। इसमें कोई दुखी होने की बात नहीं, आप हाथी को छुकर देखिये। ठीक वैसे जैसे अन्धों ने किया था। किसी ने सूंड पकड़ी, किसी ने पूंछ और समूचे हाथी को समझने का ईमानदार प्रयास किया। आप भी किजिये। आप कहेंगे हम अन्धे नहीं हैं। तब आप हाथी को देख सकेंगे। और यह साबित होगा कि आप आधुनिक नाट्य कला के विषय में समझते हैं। जो भी हो अब नाटक चालू हो जाना चाहिये, पाँच अन्धों का प्रवेश। पाँच अन्धे नहीं चार अन्धे और एक अन्धी। नाटक में थोड़ा रस भी रहना चाहिये न। चाहे नाटक में हाथी न दिखे, लड़की जरूर दिखनी चाहिये।'[31] और फिर सूत्रधार मंच पर हाथी लाने का अभिनय करते हैं अन्य पात्र भी हाथी को जानने का प्रयत्न करते हैं।

नाटककार ने हाथी का एक गीत भी नाटक में प्रस्तुत किया है जिसे पाँचों अन्धे धीरे-धीरे पैर रखते गाने लगते हैं -

"हाथी..... हा हा हा हाथी
हाथी.... हा हा हा हाथी
जायेगा अब कहाँ पर
आयेगा अब कहाँ से
खायेगा अब कहाँ पर
लायेगा अब कहाँ से
कोशिश हमारी हमारी धाँसू
तेरी आँखों में आँसू..."[32]

भ्रष्ट राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर तीव्र व्यंग्य करनेवाला अन्धों का हाथी कहीं गहरे में दर्शकों को परेशान करता है। बार-बार हास क्रोध में

बदलने लगता है और परिहास विद्रोह में। यथास्थिति के भ्रष्ट समर्थक सूत्रधार की हत्या कर देते हैं क्योंकि यहाँ 'न' कहने और प्रश्न उठाने की इजाजत नहीं है। किन्तु नाटक में एक सूत्रधार की हत्या के बाद दूसरा सूत्रधार मंच पर आ जाता है।

इस नाटक के निर्देशन में जमील अहमद ने जिस तरह हाथी की उपस्थिति का एहसास कराया है और नाटक के मूल संवेद को जैसे मानव-देह के विविध रूपाकारों और मुद्राओं के माध्यम से मंच की भाषा में अनुदित कर दिखवाया है वह उनकी प्रतिभा का सबूत है। हालाँकि कहीं-कहीं नेपथ्य संगीत के साथ चलती मुद्राओं और गतियों के अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं हो पाये हैं। रंग निर्देशन का कार्य भी इसमें पर्याप्त है जैसे "सभी अन्धे यहाँ वहाँ लेटने आराम करने की मुद्रा में हो जाते हैं। ऐसे में केवल दुहराये जाने के बात शांत हो जाते हैं। अन्धी के स्वर शेष रहते हैं।"[32]

यह नाटक एक लघु नाटक है जिसमें अन्धों द्वारा हाथी की अलग-अलग अंगों को सम्पूर्ण हाथी मानकर परस्पर लड़ने और एकांगी सत्य से संतुष्ट हो जाने के पारंपरिक कथा-सूत्र पिरोये हुए है। हाथी राष्ट्र की व्यापक गंभीर और जटिल समस्या का प्रतीक है। तो अन्धे व्यवस्था की मशीन के अलग-अलग पुर्जे हैं। सूत्रधार कहता है -

"अरे राष्ट्र के अन्धों, उठो। तुम जो भी हो नेता, मन्त्री, सचिव, संचालक, बाबु या चपरासी, जो भी हो नेता, पुलिस, पत्रकार, प्रोफेसर या पानेवाले, जो भी हो चाचा-भतीजे, मामा, ससुर या भानजे : जो भी हो क्षत्रिय, शूद्र, बनिया या आदिवासी: जो भी हो, पात्र दर्शक, आलोचक, टिकिट बेचनेवाले या पर्दा खींचनेवाले उठो, और बहुत देर से चल रहे इस नाटक को खत्म करो। इसके पहले कि हाथी तुम्हें कुचलने लगे, तुम इसे अपने वश में करो। कोई सुन रहा है मेरी बात।"[33]

हिन्दी रंगमंच पर ऐसे मानव भविष्य की चिन्ता को लेकर बुनियादी सवाल उठानेवाले गम्भीर व्यंग्य और सही राजनीतिक नाटक बहुत कम प्रस्तुत हुए हैं।

दुलारी बाई (1976)

मणि माधुकर द्वारा लिखित 'दुलारी बाई' व्यंग्य नाटक है जो लोक नाट्य शैली के नाटकों की श्रृंखला में राजस्थान के कुचामणी ख्याल शैली की रंग परम्परा से रंजित है। अपनी प्रतीकात्मक शैली में विकृत व्यवस्था तथा निर्जीव मान्यता पर यह नाटक एक साथ प्रहार करता है। यह नाटक मात्र लोकनाट्य शैली की ही परम्परा का निर्वाह नहीं करता है वरन् पारसी थियेटर की रंग रुढ़ियों तथा उसके शिल्प का भी मिश्रण है।

नाटक का प्रथम मंचन कलकत्ता की 'नामिका' नाट्य संस्था की ओर से, कला मंदिर में 3 अक्टूबर 1976 को किया गया। 'दुलारी बाई' नाट्य हास्यपूर्ण रचना है। जहाँ एक ओर दुलारी बाई के पुश्तैनी जूते उन सड़ीगली परम्पराओं एवं रुढ़ियों का प्रतीक है, जिसे चाहते हुए भी व्यक्ति छोड़ नहीं पाता एवं बंदर के मरे हुए बच्चे की तरह चिपकाये मन की लिप्सा का सजीव किन्तु कठोर चित्र प्रस्तुत किया है। सहज दृश्य ढंग से देखने पर यह नाटक विशुद्ध हास्य रस का पिटारा है जो दर्शकों का हल्का फुल्का मनोरंजन करता है। एक कंजूस औरत की कथा इस नाटक का प्रमुख आधार है एवं उसी के इर्द-गिर्द अन्य घटनायें घटित होती हैं।

ननूक, मोची, दुलारीबाई, कल्लू, कटोरीमल, पटवारी आदि नाटक के अभिनेता जब मंच पर उतरते हैं तो पहले ईश्वर की प्रार्थना करते हैं। यहाँ दर्शकों को ईश्वर माना गया है और उनकी स्तुति की गई है। आरम्भ का मंगलाचरण प्रभावित करता है यथा -

'दर्शक देव पधारे,
धन्य है भाग हमारे,
धोती कुर्ता, साड़ी ब्लॉज, कोट पैंट और टाई
पहन के आये आज यहाँ देखेंगे दुलारी बाई..."[34]

यह नाटक अंकों में विभाजित नहीं है किन्तु जगह-जगह दृश्यलोप जरूर

होता है, अतः प्रकाश की व्यवस्था के द्वारा दृश्य परिवर्तन किया गया है। बिना तामझाम के इसकी प्रस्तुति साधारण ढंग से की जा सकती है। नाटककार ने इसमें एक ही पात्र द्वारा एक से अधिक भूमिका का निर्वाह करवाया है। नाटककार ने यह बात दर्शकों के समक्ष कहलवाई है ताकि दर्शक जान जाये कि एक व्यक्ति एक से अधिक भूमिका का निर्वाह करेगा। यथा- अभिनेत्री तथा दुलारीबाई की भूमिका स्त्री नामक पात्र निभाती है। सूत्रधार, मोची पटेल की भूमिकाएँ 'पहला आदमी' नाम पात्र निभाता है तो दूसरा आदमी, 'अभिनेता दो', 'पुतला एक' तथा 'कल्लू भांड' की। तीसरा आदमी 'पुतला दो', 'चिमना मांझी' और 'फर्जीलाल' की भूमिकायें निभाता है, तो चौथा आदमी 'अभिनेता-एक', 'ब्रह्मा करोरीमल', 'गंगाराम जार' 'और 'ईश्वर' की। इस प्रकार केवल पाँच अभिनेता अठारह पात्रों का अभिनय करते हैं।

नाटक में जब भी कोई पात्र मंच पर प्रवेश करता है तो वो अपना परिचय देता है। कुचामणी ख्याल की यह प्रमुख विशेषता है।

एक उदाहरण देखिये - "कल्लू - (दर्शक से) हाजरीन इस गाँव में दुलारीबाई के कई प्रेमी हैं। एक मैं भी हूँ। जी हाँ, अब बेटा कल्लू भाँड के रोल में है और रिझाने-खिझाने वाला है दुलारी बाई को।"[35]

कुचामणी ख्याल में कथा हंसी मजाक से भरपूर होती है, अतः इसके पात्रों में भी मजाकिया पात्रों की अधिकता है। यहाँ वेशभूषा का ज्यादा महत्व नहीं है क्योंकि पात्र स्वयं मंच पर आकर अपना परिचय दे देता है। सूत्रधार "प्रवेश कर मैं ननकू मोची का पार्ट करूँगा लेकिन डॉयलॉग बोलने का अपना स्टाइल वही रखूंगा पारसी थियेटर वाला।"[36]

पारसी थियेटर शैली से प्रभावित संवादों के अतिरिक्त राजस्थानी भाषा एवं बोली का पुट लेकर भी संवादों की रचना की गई है। नाटक के गीत एवं संवादों ने मंच के कई जटिल दृश्यों को सरल बना दिया।

गिरीश रस्तोगी का मत है - "नाटक में पारसी रंग विधान को काफी हद तक मणि मधुकर ने पकड़ा है और उसमें राजस्थानी के कुचामणी ख्याल के नाट्य शिल्प को घुला मिलाकर, एक नये रंग शिल्प को तलाशा, इसलिये नाटक में मंगलाचरण सूत्रधार, गायन-वादन, नर्तन-मंडली पुतले गायन कीर्तन भी है। चार पाँच पात्र बदल-बदलकर कई भूमिकाएँ करते हैं।"[37] यह नाटक दर्शकों को बाँधे रखता है।

"आरंभ से अंत तक शिथिलता के लिये कोई क्षण नहीं। दुलारी बाई की भव्य सफलता में लोकधर्मी मंच परम्परा की लोकप्रियता को नये सिरे से समझा जाना चाहिये। निसन्देह यह नाटक शहरी रंगशालाओं और गाँव की चौपालों में बेहिचक खेला जा सकता है। आधुनिक भावबोध की ऐसी प्रतिष्ठा रंगमंच में कम ही देखने को मिलती है।"[38]

दुलारी बाई नाटक के मंचन पर युगधर्म (नागपुर) की समीक्षा थी -

"हिन्दी के नाटक सफल नहीं होते', 'हिन्दी नाटक के लिये दर्शक नहीं मिलते' या हिन्दी नाटक घिसे-पिटे होते हैं', हिन्दी नाट्य मंच पर किये गये और किये जा रहे इन आरोपों का खण्डन 'दुलारीबाई' नाटक के सफल मंचन द्वारा किया गया है। इन्दौर की सुप्रसिद्ध नाट्य संस्था 'प्रयोग' द्वारा प्रस्तुत यह नाटक अपने आप में एक अनूठा प्रयोग ही था।"[39]

एक और द्रोणाचार्य (1980)

डॉ. शंकर शेष 1956 से ही रंगमंच से जुड़े हुए थे। उनके लगभग दो दर्जन से ज्यादा नाटक हैं जिनका मंचन भी हो गया है।

बिन बाती के दीप, मूर्तिकार, खजुराहो का शिल्पी, मायावी सरोवर, कोमल गांधार, पोस्टर, घरौंदा, रक्तबीज आदि कई सफल नाटक इनके द्वारा ही लिखे गये हैं। इन नाटकों में आधुनिक वैचारिक द्वन्द्व के उद्घाटन के कारण ही डॉ. शंकर शेष पुरस्कृत हो चुके हैं।

इन्होंने जीवन के चालीस वर्ष पूरे करने के पश्चात सन 1972 में अचानक नाट्य लेखन आरम्भ कर सबको चमत्कृत कर दिया।
'एक और द्रोणाचार्य' महाभारत की एक समानान्तर कथा के माध्यम से आज के तथाकथित बुद्धिजीवी के समझौतावादी चरित्र की विड़म्बना को प्रस्तुत करता है। बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता आदि शहरों में इस नाटक के कई प्रयोग हो चुके हैं।

नाटक पूर्वाद्ध और उत्तरार्द्ध में विभक्त है। नाटक में प्रकाश संयोजन, संगीत तथा कम से कम मंचीय उपकरणों की सहायता से अतीत और वर्तमान के दृश्यों को बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। अरविन्द का ड्राइंग रूम, द्रोणाचार्य की झोंपड़ी, जंगल, जेल की कोठरी और कोर्ट इन पाँच दृश्यों की योजना के माध्यम से ही नाटक को दिखाया गया है। फ्लैश बैक तथा दिवास्वप्न द्वारा पुराण प्रसंग को दर्शाया गया है जो नाटककार के वैविध्य को दर्शाता है। भाषा का प्रभाव नाटक पर नहीं पड़ पाया अन्यथा यह नाटक अधिक रोचक और कलात्मक हो सकता था।
"और उस राजकीय अन्न की दासता ने मेरा विवेक खरीदा। मेरी न्यायबुद्धि खरीदी। मुझे एकलव्य का अंगूठा काटना पड़ा, मुझे कर्ण जैसे होनहार विद्यार्थी को अवस्था की आड़ लेकर ठुकराना पड़ा। पक्षता और क्षुद्रता ने मेरा स्वत्व छीन लिया। अश्वत्थामा, उस समझौते ने मुझे कभी सही आदमी नहीं बनने दिया तब मैं सही आदमियों का कहाँ से निर्माण करता?"[40]

"तू द्रोणाचार्य है और सत्ता के कोड़ों से पिटा हुआ द्रोणाचार्य, इतिहास की धार में ककड़ी के ठूंठ की तरह बहता हुआ। वर्तमान के कगार से लगा हुआ सड़ा गला द्रोणाचार्य। व्यवस्था के लाइटहाउस से अपनी दिशा मांगने वाले टूटे जहाज-सा द्रोणाचार्य।"[41]

आचार्य द्रोण जैसे महारथी को व्यवस्था के आगे घुटने टेकने पड़े थे तो अरविन्द की क्या हस्ती?

इस सम्पूर्ण नाटक में प्रो. अरविन्द और द्रोणाचार्य की कथा साथ-साथ चलती

है। इसमें रंगकर्मी आलोचक ओम अवस्थी ने मंच पर एख झीना पर्दा इस तरह से टांगा था कि उसके पीछे खड़े होकर प्रो. अरविन्द चिंतन के समय एकालाप करता है और पीछे ही उस पर एक प्रकाश इस कोण से फेंका जाता है कि उसके चेहरे की छाया पर्दे पर पड़कर, बड़ी होकर उभर आती है। इससे अरविन्द के मन के द्वंद्व संघर्ष को उभारने में इस तकनीक का उपयोग किया जाता है।

छोटे सैयद बड़े सैयद (1980)

सुरेन्द्र वर्मा द्वारा लिखित इस नाटक की पहली प्रस्तुति राष्ट्रीय नाट्य रंगमंडल द्वारा व. व. कारंत के निर्देशन में, विद्यालय के मुक्ताकाशी मंच 'मेघदूत' प्रेक्षागृह में नवम्बर 1980 में प्रस्तुत किया गया था। इसमें कुल पात्र लगभग 80 हैं। नाटक का फलक बहुत व्यापक और विराट है। अपने संक्षिप्त रूप में इसमें 32-33 दृश्यों की रंग परिकल्पना है, जिसमें 80-82 अभिनेताओं और 27 पार्श्वकर्मियों की आवश्यकता पड़ती है। रंगमंडल के कुशल कलाकारों ने दुहरी-तिहरी भूमिकायें करके इस कठिन कार्य को यथासंभव सफलतापूर्वक निभाया। 32 दृश्यों में 24,25,27 और 31 में लाल किले का दृश्य है। 26,28,29 में अब्दुल्ला खाँ का घर और सबका एक सेट बनाकर मंच पर जब प्रस्तुत किया गया तो इस प्रस्तुति में लगभग 90 हजार रुपये खर्च हुए।

निर्देशक ब.व. कांरत इस नाटक की विशेषता को लेकर लिखते हैं - "सुरेन्द्र वर्मा का यह नाटक 'छोटे सैयद, बड़े सैयद' किसी समय विशेष का ऐतिहासिक चित्रण मात्र ही नहीं है बल्कि यह समसामायिक यथार्थ को ऐतिहासिक स्थितियों और पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत करने का एक सशक्त प्रयास है। वस्तुतः यह मानवीय स्थितियों, आकाश और दुर्बलताओं का नाटक है। इशकी स्थितियाँ और पात्र वैसे ही हैं जैसे हर सुबह अखबार में देखने को मिलते हैं। जिसकी कोई भी एक घटना पूरे पृष्ठ पर छा-सी जाती है।"[42]

जयदेव तनेजा का मत है - "कुछेक सीमाओं के बावजूद 'छोटे सैयद, बड़े सैयद' नाटककार सुरेन्द्र वर्मा और आधुनिक हिन्दी रंगमंच की एक ऐसी उल्लेखनीय

रचना है जिसने नाट्य लेखन के स्तर से एक प्रतिमान स्थापित करने के लिये नई चुनौती प्रस्तुत करके समकालीन रंगकर्म को गरिमा और समृद्धि प्रदान की है।

ग्रीक त्रासदीका गरिमावान, विषय की तीखी समसामयिकता कथानक की महाकाव्यात्मक भव्य जटिलता, गीतों का अत्यन्त सार्थक उपयोग और इतने सारे पात्रों का प्रभावशाली नियोजन एवं निर्वाह राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रगमंडल जैसी साधन सम्पन्न नाट्य संस्था ही प्रस्तुत कर सकती है। अन्य नाट्य संस्था के पास न तो इतने कलाकार हैं और न इतने साधन हो सकते हैं। इसलिये रा.ना.वि. के रंगमंडल के अलावा यह नाटक इतने बड़े पैमाने पर और सही तरह से कहीं मंचित हुआ होगा इसमें शक है। फिर भी मंचीय दृष्टि से यह नाटक इतिहास है। और भारतीय नाट्य क्षेत्र में ऐसी विशाल प्रस्तुति एक बार ही दिखायी दी है।

इस नाटक का बड़े पैमाने पर प्रदर्शन किया गया है और इसकी प्रस्तुति का आकर्षण सदैव बना रहा है।

रावण लीला :

यह नाटक रामकथा पर आधारित है। डॉ. कुसुम कुमार का यह नाटक जिगरपुर की रामलीला की नेपथ्य कथा के बहाने कला के क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार के एक पहलू पर प्रकाश डालता है। धार्मिक कथ्य के माध्यम से इस नाटक में वर्तमान सन्दर्भों को समेटा गया है। तथा यह वर्तमान व्यवस्था व अर्थ व्यवस्था की परते खोलता है। वर्तमान अर्थ व्यवस्था में अर्थ की महत्ता तो है इसलिये इसके लिये ही आदमी जीता है और मरता है। अर्थ की इस विसंगति को ही नाटक में दर्शाया गया है।

यह नाटक दो स्तर पर चलता है। एक जो नाटक मंचित किया जा रहा है तथा दूसरा अभिनेता की निजी जिंदगी समस्याओं से सम्बन्धित है। अतः इसका कथानक कुछ इस प्रकार है :

कथानक : 'दानदाता सेठ धर्मचन्द, संचालक काशीराम और लगभग सभी कलाकार प्रतिष्ठा, पैसे, लोकप्रियता या मनोरंजन के कारण ही मंच से जुड़े हैं। रावण की भूमिका का पुराना प्रभावशाली अभिनेता भगवानदास नाम और दाम के लालच में शहर चला जाता है। हरिजन चंदुलाल अपने अहंकार की पूर्ति के लिये अलग रामलीला चलाने लगता है। रावण की भूमिका वर्तमान अभिनेता कर्तारसिंह बड़े नाजुक मौके पर पचास रूपये प्रतिदिन पारिश्रमिक माँगता है। काशीराम के समझाने या मना करने पर पारिश्रमिक की राशि बढ़ाकर अस्सी रूपये कर देता है। दर्शकों के सामने गुस्से में आकर मंच पर गाली-गलौज करता है। सबको मारता-पीटता है और अंत में राम के हाथों तब तक मरने से इन्कार करता रहता है जब तक कि काशीराम अस्सी रुपये देने की स्वीकृति नहीं देता। इस देशी रामायण का रावण संयोजक की मजबूरी का पूरा लाभ उठाता है, क्योंकि उसका सरोकार सिर्फ पैसों से है।

प्रस्तुत नाटक में बड़ी-बड़ी मंडलियों द्वारा कलाकारों के शोषण को दर्शाया है जहाँ कलाकार को अपना पारिश्रमिक पाने के लिये शोषण का शिकार होना पड़ता है। वहीं नाटक में खेली जा रही रामलीला भी मंच पर चलती है।

पात्र एवं वेशभूषा :

'रावण लीला' नाटक रामकथा के कथ्य को लेकर रचा गया है। इनमें पात्रों के रूप में राम, सीता, रावण, अंगद, शूर्पणखा आदि पात्र रामलीला शैली के अनुरूप हैं। काशीराम, करतारसिंह, जगन्नाथ,धर्मचंद आदि सामाजिक जीवन के पात्र हैं। अर्थात् कथानक में सामाजिक एवं धार्मिक दोनों जीवन का चित्रण मिलता है। इसमें पात्र अभिनय करते हुए अपने असली रूप में आ जाते हैं तब स्थिति हास्यास्पद हो जाती है। एवं पात्र दर्शकों को याद दिलाते हैं कि यह देसी रामायण है। इस प्रकार पात्र एवं दर्शक के बीच सम्बन्ध बन जाता है। जो इस लोकनाट्य से जोड़ता है। इसके कुछ पात्र दर्शकगण में बैठे होते हैं जो बीच-बीच में नाटक पर टिप्पणी करते हैं एवं पात्रों से संवाद करते हैं। इस प्रकार की अनौपचारिकता लोकनाट्य में देखी जा सकती है।

वेशभूषा पात्रों के अनुरूप की जा सकती है। प्रयोग के तौर पर स्त्री पात्रों की जगह पुरूष को महिला बनाकर मंच पर अभिनय करवाया जा सकता है जिससे यह नाटक और हास्यास्पद हो सकता है।

भाषा एवं संवाद :

यह नाटक खड़ी बोली हिन्दी में लिखा गया है, जो देशज शब्दों से युक्त है। अतः इस नाटक में उर्दू, अंग्रेजी भाषा के शब्द मिलते हैं। कुछ संवादों में पारसी थियेटर की झलक मिलती है जहाँ तुकान्त की महत्ता है। जैसे -

"रावण- तुने तो राक्षसों का नाम ही डूबो दिया, बेकारी, हरामखोरी, चोरीचकारी ...

मारीच - (रावण के कान के पास मूँह ले जाकर) यह चोरी, चकारी, हरामखोरी अपने पास से मत लगाये जा। सिर्फ बेकारी बोल, ज्यादा बढ़ता ही जा रहा है।

रावण - क्या फर्क पड़ता है यार, जहाँ सेर वहाँ सवा सेर।

मारीच - जो जी में आए कर साले।

(रामलीला में क्षणिक रुकावट देख दर्शकों में सीटियाँ और रोष)

रावण - (दर्शको से) भाइयों, यह देसी रामायण है, चूप हो जाइये"

इस प्रकार के संवाद नाटक में कई जगहों पर हैं जहाँ पात्रों द्वारा दर्शकों से वार्तालाप किया जाता है।

'रावण लीला' में गीत-संगीत का प्रयोग कम ही हुआ है, फिर भी रामकथा पर आधारित होने के कारण इसमें गीत है, गीत का प्रयोग, वंदना स्वरूप प्रतीत होता है जो रावण की प्रशंसा में है।

"नहीं रुकेगा, नहीं झुकेगा, झंडा रावण राज का।
आगे आगे और बढ़ेगा, झंडा रावण राज का।
यह झँडा। यह झंडा।
पाप की, ताप की, शान बढ़ाकर

होश गंवाकर, दोष लगाकर

सबको देगा विष का दान, झंडा रावण राज का।

यह झंडा, यह झंडा।"[44]

इसमें कव्वाली गीत भी है -

"कबर में पाँव है, सरकार हिम्मत हार बैठा हूँ

मौत मेरी कहे मुझसे,

कि हो जा मौत को तैयार , मैं तैयार बैठा हूँ

खून दंगे फसादों की नहीं, उम्र अब मेरी

मैं हूँ मोहताज औरों का।"[45]

एक समूह गीत भी है-

बीन पाती पतनी जगत में दहे हे बिन प्राण की

जल बिना हो मीन जैसे राम-बिन है जानकी

ऐ विरह तुझको भी मुझ पर कुछ तरस आता नहीं

हाय क्यों बेजान की सी बाजी लगाये ये जानकी।

इसमें गायन मण्डली रंगमंच के ऊपर ही या फिर नेपथ्य से गीत-संगीत को पेश कर सकती है। वाद्य यंत्रों में हारमोनियम, ढोल, मजीरा, ताशा आदि का प्रयोग किया जा सकता है।

रंगमंच :

यह नाटक मुक्ताकाशी रंगमंच की परम्परा का निर्वाह करता है। और साथ ही आधुनिक रंग परम्परा को भी अपनाये हुए है। प्रस्तुत नाटक में रंगमंच को चारों ओर से खुला रखा है। जो घटनायें होती हैं वह दर्शकों के समक्ष ही होती हैं।

एक दृश्य योजना के अन्तर्गत -

"सीता अन्दर जा चुकी है, हनुमान जोश में छलाँग लगाता है, पाँव की चोट के कारण दर्द से कराह उठता है, तभी विंग में से कोई फल फेंकता है, और हनुमान

उसे झपटकर फौरन खाने लगता है।"

हनुमान- (दर्शकों से) भाइयों, जिगरपुर की रामलीला का यह दृश्य बड़ा मौलिक है। अब मंच पर फल पेड़ दिखना तो संभव भी नहीं है ना?"

इस प्रकार इस नाटक का रंगमंच लोकमंच से प्रभावित हुआ है।

शैली :

यह एक हास्यपूर्ण नाटक है, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य जीवनगत समस्याओं का चित्रण करना है। लोकशैली के लचीलेपन के साथ अतिरंजनापूर्ण पारसी शैली सम्मिश्रण के साथ रावणलीला हल्का-फुल्का हास्य प्रधान नाटक बन गया है।

पोस्टर :

- हिन्दी नाट्य साहित्य के सुप्रसिद्ध एवं सशक्त लेखक डॉ. शंकर शेष का यह नाटक 'पोस्टर' जो निम्न एवं मजदूर वर्ग पर किये गये शोषण एवं इस शोषण के खिलाफ क्रांति का संचार करते दिखता है। इसका कथानक इस प्रकार है -

कथानक :

एक सामान्य और दीनहीन मजदूर कल्लू की पत्नी चेती कुछ दिनों के लिये अपने मायके जाती है। वहाँ के खान मजदूरों ने अपनी युनियन के नेता राघोबा के कहने पर शराब पीना छोड़ दिया है। राघोबा और जागृक मजदूर की सम्मिलित शक्ति के सामने उनके मालिक थरथर काँपते हैं। अनजाने ही अनपढ़ चेती राघोबा की फोटोवाला एक पोस्टर अपने साथ इस गाँव में ले आती है। यहाँ गाँव का पटेल अपने ठेकेदार सुखलाल तथा भ्रष्ट फॉरेस्ट ऑफिसर के साथ मिलकर ढोंगी संन्यासी बाबा अखंडानंद के झूठे स्वर्ग-नर्क के किस्सों द्वारा अंध-विश्वासी मजदूरों का भरपूर शोषण करता है। परंतु पूंजीपति सत्ता और धर्म की इस सम्मिलित अन्याय शक्ति के पाँवों की जमीन तब खिसक जाती है जब बिना कुछ भी समझे मजदूरों द्वारा मात्र कुतुहलवश दीवार पर लगा दिये गये एक पोस्टर और मजदूरों की चुप्पी के

परिणामस्वरुप उन्हें मजदूरों की पगार पहले चार आने और फिर आठ आने प्रतिदिन मजबूरन बढ़ानी पड़ती है। मजदूर पोस्टर को एक चमत्कारीक अमोघ अस्त्र और अचूक मंत्र की तरह मानने लगते हैं। इससे उनमें अपने अधिकारों के प्रति नयी चेतना और विरोध विद्रोह की शक्ति का उदय होता है।

पात्र एवं वेशभूषा :

इसके पात्र साधारण जनजीवन के पात्र हैं जिसमें दो वर्ग हैं। एक वह वर्ग है जो किर्तनकार एवं उनके साथ में है अर्थात् जो कथा को आगे बढ़ाते हैं एवं कथा की व्याख्या भी करते हैं। वह सूत्रधार की तरह काम करता है। दूसरा वर्ग वह है जिसमें मजदूर वर्ग व मालिक वर्ग के पात्र आते हैं।

पात्र संयोजन की दृष्टि से इनकी संख्या अधिक नहीं है। अतः रंगमंच पर प्रस्तुति के समय एक निर्देशक कलाकारों को साधारण वेश-भूषा पहनाकर रंगमंच पर नाट्य प्रदर्शन कर सकता है। जैसे इसमें अधिकांश पात्र मजदूर हैं तो साधारण एवं पुरानी वेशभूषा जिसमें सिर के उपर पगड़ी की तरह एक छोटा कपड़ा बाँधकर काम लिया जा सकता है। स्त्री पात्र को साड़ी, ब्लाउज़ में तथा पटेल लोगों को धोती-कुर्ता और टोपी पहनाकर मंच पर लाया जा सकता है। ऑफिसर के लिये पेन्ट-शर्ट और सुविधानुसार कोट भी पहनाया जा सकता है। किर्तनकार या सूत्रधार धोती, शॉल पहनकर या साधु का वेश पहनकर आ सकता है।

भाषा और संवाद :

यह नाटक भाषा एवं संवाद की दृष्टि से सशक्त है। इसमें अंग्रेजी और संस्कृत के शब्दों का प्रयोग यदा-कदा मिल जाता है। जैसे - इम्पोर्टन्ट, ट्रायबल, सायकोलॉजिकल, सस्पेन्ड, होरिबल, आदि। इसके अतिरिक्त मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है जैसे - दुम दबाकर भागना, धतूरा बोयके आम पाने की इच्छा, जैसा करेगा वैसा भरेगा, पानी में रहकर मगरमच्छ से बैर आदि। संस्कृत शब्दों का प्रयोग

जैसे -

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।

इसका प्रयोग सूत्रधार करता है -

एक संवाद मजदूरों के बीच किस तरह चलता है देखिये-

मजदूर - अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। कल्लू चल माफी माँग ले वरना वह काम बंद कर देगा।

कल्लू - कायर की औलाद साला। एक घुड़की में पेशाब निकल आती है तेरी। चुप बैठ।

अतः नाटक में संवाद अदायगी और पात्रों के तटस्थ अभिनय से रंगमंच पर इसकी सफल प्रस्तुति आज भी निर्देशक गाँवों और शहरों में दे रहे हैं।

किर्तन शैली में यह नाटक होने के कारण इसमें गीत-संगीत का समावेश किया गया है। जो कथा को आगे बढ़ाता है। तथा इसकी व्याख्या भी करता है। नाटक के प्रारंभ में ही एक श्लोक है-

ब्रह्मानंद परमसुखदम् केवलम् ज्ञानमूर्तिम्

द्वन्द्वातीतं गगन सदृशं तत्वमस्यादि लक्ष्यम्

एवं नित्य विमलं चलं सवाधीसाक्षिभूतम्

भावातीतं त्रिगुणरहितं सदगुरु नमामि ।"[46]

भजन है -

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे"[47]

इस नाटक में जगह-जगह गीतों को प्रयोग में लाया गया है। जिससे नाटक पूर्णतः संगीतमय हो गया है। एक मंगलगीत का उदाहरण देखिये -

रसिया घर आये

मंगल गाओ री.. रसिया घर आये

कुर्सि लगाओ दारु मंगाओ

मुर्ग मुसल्लम लाओ री

रसिया घर आये रे

मंगल गाओ री।"[48]

अतः नाटक में गीत-संगीत का प्रयोग किर्तन शैली के लिये ही किया गया है।

रंगमंच :

इस नाटक का रंगमंच मुक्ताकाशी परम्परा एवं आधुनिक रंग परम्परा का मिलाजुला रूप हो सकता है। मंचसज्जा और मंचोपकरण के बिना कुछ कलाकारों से नाटककार ने जिस प्रकार अनेक चरित्रों को अभिनीत कराने की युक्ति अपनाई है वह मनोशारीरिक रंगमंच से काफी नजदीक पड़ती है।

"नाटक में किसी भी प्रकार की मंच सज्जा अपेक्षित नहीं है। तत्वतः उसे पूरी तरह निकालने की कोशिश की गई है। .....प्रकाश के सृजनात्मक उपयोग की जरूर अपेक्षा है। ....उसी प्रकार मंच के सभी हिस्सों के सार्थक उपयोग की।"[49]

साधारण वेशभूषा में यह नाटक खेला जा सकता है, यहाँ तक पोस्टर को काल्पनिक बनाया जा सकता है। पूरे नाटक में कहीं भी दृश्य परिवर्तन की अपेक्षा नहीं है। कथ्य शिल्प और प्रदर्शन शैली की दृष्टि से 'पोस्टर' नुक्कड़ नाटकों के बहुत नजदीक है। इसके अब तक मंचयुक्त वह मंचमुक्त सभी प्रस्तुतिकरण उल्लेखनीय व सफल रहे हैं।

नवें और दसवें दशक के नाटकों में रंगमंचीय प्रयोग :

नवें दशक का रंगमंच बाल्यावस्था से निकलकर प्रौढ़ावस्था तक पहुँच गया। इस दशक का रंगमंच सभी आधुनिक विशिष्ट तकनीकियों से भरा पड़ा है। लेकिन फिर भी दुर्भाग्य ही कहा जायेगा हिन्दी रंगमंच के लिये कि इस समय भी नाटककार और साहित्यकार इस ओर कदम उठाने से हिचकिचाते हैं। इसका एक प्रमुख कारण

यह है कि भारत की प्रान्तीय भाषाओं में खासकर गुजराती, मराठी और बंगाली के नाटकों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है तथा रंगमंचीय दर्शकों को सिनेमाघरों से खींचकर लाने में सक्षम हो गया है। नवें दशक का दर्शक भी प्राचीन परम्पराओं, रुढ़ियों और सामाजिक नाटकों को समझ चुका है और वह कुछ नया देखना चाहता है जिससे उनके तीन घण्टे और पैसे वसूल होने के साथ-साथ मनोरंजन भी हो सके।

गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि स्थानों पर तो रंगमंच के लिये ही नाटक लिखे जाते हैं और नये प्रयोग किये जाते हैं। इसके लिये भी यहाँ नाट्यगृहों की समुचित व्यवस्था की गई है और प्रत्येक नाट्यगृहों में टिकट लेकर नाट्य देखने के लिये जाना पड़ता है।

नवें दशक में कई संस्थायें भी सामने आयी हैं, जो स्टेज शो करती हैं। 1999 में ही थियेटर एण्ड मीड़िया सेन्टर ने नाटक और थियेटर की शैक्षणिक प्रवृत्ति के विकास के लिये एक संगठन बनाया है जिसमें वर्गों के अनुसार नियमित तालीम दी जाने लगी है। इस आयोजन में अभ्यास का क्रम तथा इस क्षेत्र में काम करने वाले नाट्य शिविरों को भी मिलेगा। इस योजना का लाभ युवावर्ग को स्वनिर्भर बनाने के लिये काम आ सकेगा। उनका संघर्ष भी कम होगा, जो आज के दशक में इस नाट्य की दिशा में कदम बढ़ाना चाहते हैं।

National Association of Theatre Workers (NATWP) नामक नयी संस्था का उद्घाटन हुआ और इसमें भी विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के विकास में नाटकों के योगदान के लिये रंगकर्मियों द्वारा रंगभूमि को सहायता प्रदान करने का मुख्य उद्देश्य सामने है। उसकी स्थापना में मोहन महर्षि, भानु भारती, बंसी कौल, उषा गांगुली, वसंत जोसलकर आदि हैं।

पश्चिम विभाग सांस्कृतिक केन्द्र उदयपुर द्वारा 'नयी सदी का भारतीय थियेटर: विकास और सम्भावनायें' पर एक परिसंवाद का आयोजन रखा गया था। इसमें

देशभर के रंगकर्मियों ने भाग लिया, जिनमें मार्कण्ड भट्ट, के. एन. पणिक्कर, इन्द्र प्रसाद सेनगुप्त, राजेन्द्रनाथ, नादिरा बब्बर, विष्णु वाघ, बंसी कौल आदि ने तीन दिवसीय बैठक में नयी सदी के थियेटर पर विस्तृत चर्चा भी की। इस परिसंवाद का संचालन भानु भारती ने किया। उन्होंने इस सन्दर्भ में अपना मत रखते हुए इस संगोष्ठि में कहा- "आज समाज में समूह माध्यमों के सामने थियेटर की हार हुई है और अब इसकी जरुरत नहीं के बराबर समझी जाने लगी है।
इन सबका सबसे बड़ा कारण सांस्कृतिक नीति का स्पष्ट अभाव रहा है।"[43]

कमलाकर सोनटक्के इस सम्बन्ध में मानते हैं कि -
"नवीन थियेटर की जवाबदारी खूब ही बढ़ जायेगी, और इसकी रंगभाषा आदि आवश्यक नाट्य शैलियों में संशोधन की आवश्यकता है, नहीं तो सभी रंगकर्मियों का क्षेत्र सीमित हो जायेगा। उन्होंने यह भी कहा कि देश के प्रत्येक प्रांत व जिलों में एक-एक थियेटर बिल्डिंग और सांस्कृतिक केन्द्र बनाया जाना चाहिये।"
साधन व सम्पत्ति (Budget) के अभाव के बारे में इन्द्रसेन गुप्त ने नाट्य निर्माण के समय रंगकर्मियों का एक विशेष संघ बनाने की बात पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि सांस्कृतिक वैविध्य पर भी भारतीय थियेटर के आर्थिक विकास हेतु इसका योगदान जरुरी है। एम. के. रैना ने बाजार के अर्थतंत्र की पकड़ के बारे में अपनी विचारधारा के अन्तर्गत थियेटर के आवश्यक पक्षों पर प्रकाश डाला। थियेटर राजकारण को नहीं उखाड़ सकता बल्कि उसे लोकजागृति के लिये दो आगे आना ही चाहिये, यही तो इस थियेटर का काम है।

इन दशकों में नाटकों ने अपना वैज्ञानिक रूप भी धारण कर लिया और नये-नये यन्त्रों के आगमन से उसकी तकनीकी में भी बदलाव आने लगे। नाटक में कार्य करने वालों के लिये विभाग बना दिये गये, जिससे वे अपना कार्य सुचारु रूप से कर सके। इस दो दशक में हिन्दी नाटकों में हर समस्याओं को आधुनिक बनाने का प्रयास किया जाने लगा। अब दहेज की या राजनीति की बड़ी-बड़ी समस्याओं या समाज की समस्याओं पर विशेष ध्यान न देकर छोटी समस्या को लेकर एक विशाल

प्रस्तुति की जाने लगी है, जिसमें जनता का मनोरंजन भी हो और व्यावसायिक तौर पर नाटक मण्डल भी खुश रहे। दसवें दशक के दौर में नाटकों की कमी तो आयी है किन्तु फिर भी नाटकों के लेखन का कार्य आज के निर्देशकों ने ही सम्भाल लिया है।

यह एक कारण भी है कि निर्देशक जनता की मांग को समझने में, उसको पहचानने में सक्षम हुए और लेखन की ओर आकृष्ट हुए। वे जानते हैं कि दर्शक पैसा खर्च कर मनोरंजन चाहता है और यह मनोरंजन उन्हें कम पैसों में, घर में बैठे हुए बिना समय बर्बाद किये टेलीविजन या फिल्मों के माध्यम से मिल जाता है। एक जगह टेलीविजन पर अनेक चेनलों के प्रसारण से नाटक व फिल्में देखने को मिल रही हैं तो दूसरी जगह उन्हें इन माध्यमों से सभी प्रश्नों का पूर्ण रूपेण आनन्द प्राप्त होता है। तकनीकी कैमरा, गाने, नृत्य, हास्य, अभिनय, संगीत, सेक्स, रोमांस, फाइट, कलर प्रिन्ट, सिनेमाघरों में एयर कुलर आदि सभी इच्छायें पर्दे के माध्यम से पूर्ण हो रही हैं तो वह सिर्फ नाटक देखने के लिये थियेटर (नाट्यगृहों) तक क्यों आये!

इस दशक में रंगमंच धीरे-धीरे मर रहा है, नेपथ्य में जा रहा है क्योंकि नये नाट्यों को लेखन पहले की तरह नाटककार नहीं कर रहा है, और रंगमंच का निर्देशक फिल्मों की चकाचौंध में टेलीविजन आदि माध्यमों में जा रहे हैं। थियेटर लगभग खाली पड़े रहते हैं और आयोजक इस प्रतीक्षा में रहते हैं कि दर्शक वहाँ आये, किन्तु दर्शक टी.वी. के सामने सोते हुए, खाना खाते हुए, सोफे पर आराम करते हुए धारावाहिक या अन्य चटपटे कार्यक्रमों का आनन्द उठाने में लगा है। किन्तु फिर भी इक्किसवीं सदी तक आते-आते कुछ नाटकों की सशक्त अभिव्यक्ति ने आज भी दर्शकों के एक वर्ग को रंगमंच की ओर आकर्षित किया हुआ है।

"हिन्दी का रंगकर्मी इसी अभाव की वेदना से सर्वाधिक प्रभावित और पीड़ित है। नाटक के क्षेत्र में विचित्र बात यह है कि प्रसाद के काल में नाट्य प्रशिक्षण की वैज्ञानिक प्रविधियों का विकास नहीं हुआ था। रंगमंच के प्रशिक्षित विशेषज्ञ नहीं थे। आज रंगप्रशिक्षण के अनेक केन्द्र हैं। आये दिन कार्यशालायें आयोजित होती रहती

हैं, नाटक पर गोष्ठियाँ होती हैं और नाट्य शिल्प पर पत्रिकायें भी प्रकाशित होती हैं। आझ हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में सैंकड़ो प्रशिक्षित स्नातक हैं। साथ ही नाटक की अभियांत्रिकी इतनी सुलभ हो चुकी है कि मंच पर कठिन से कठिन दृश्य सुगमता से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मंच पर चलते हुए बादल दिखाना, वर्षा दिखाना, सरिता का प्रवाह, अग्नि आदि प्रदर्शित करने के लिये वैज्ञानिक उपकरणों का आविष्कार हो चुका है। रंगदीपन के लिये नये प्रभावशाली यंत्र और नयी पद्धतियाँ विकसित हो गई हैं। इतने पर भी आज हिन्दी नाटकों के अभाव के कारण प्रशिक्षित स्नातक अन्य भाषायी नाटकों से अपनी संतुष्टी करते हैं।"[44]

नवें दशक में विजय तेंदुलकर के तीन नाटकों को पुनः प्रयोग में लाया गया। एक 'गिधाड़े', दूसरा 'कन्यादान' और तीसरा 'विठ्ठला'। तीस साल पहले 'गिधाड़े' का प्रयोग सर्वप्रथम हिन्दी रंगमंच पर किया गया था और उसके कन्यादान का, परन्तु आज भी इन नाटकों की छवि अनेक नाट्य रसिकों के मन में है। दर्शक नाटक की तुलना एक दूसरे से नहीं करता है।

'मियाँ की जूँ' नामक नाट्य में विदेश यात्रा के बाद जब स्वदेश लौटने पर पूजा और उसके पति द्वारा माइक्रोफोन के माध्यम से एक-दूसरे के मन की बात को जानने का लाते हैं। सम्पूर्ण नाटक हास्य प्रधान है। इसमें पूजा और उसका पति अपने एक मित्र की शादी-पार्टी में जाते हैं। मित्र की शादी पार्टी और उसमें कलह डालने के लिये माईक्रोफोन (जो बिंदी और कान के बूंदो के माध्यम से एक-दूसरे के मन की बात जान लेता था) मीना और उसके प्रेमी पति को देते हैं जिससे उनके घर में कलह तो उत्पन्न होता ही है साथ ही साथ अन्त में उनमें समझौता और समाधान भी कराया जाता है। इस सम्पूर्ण नाट्य कथा को निर्देशक बड़ी ही चतुराई से रंगमंच पर बिना तामझाम के एक हास्य वातावरण बनाने में सफल होता है। क्योंकि इस सम्पूर्ण नाटक में प्रमुख आकर्षण का केन्द्र वह 'माइक्रोफोन' ही है।

वैसे ही सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'एक दूनी एक' में -

"औरत रिसीवर रखती है, रसोई में जाती है, आधमी रिसीवर धीरे-धीरे रखता है,

विचारलीन है। आत्मसंघर्ष को ध्वनित करने वाली जुगलबंदी ऊँची होती है। सितार के साथ अब तबला भी है धीरे-धीरे फिर अंधेरा होता है।"[45]

यानि फोन के रिसीवर को एक आधुनिक यन्त्र के रूप में हमारे सामने नाट्य प्रयोग में लाया गया है। सुरेन्द्र वर्मा ने तो अपने प्रथम दृश्य की समाप्ति पर ही यह निर्देश दे दिया था फिर रंगमंच पर प्रस्तुति के दौरान बाकी के दृश्यों में जहाँ-जहाँ निर्देशक (नयी दृष्टि, नये यन्त्र) प्रयोग कर सका है वहाँ पर वह करता चला आ रहा है।

'लड़ाई जारी है' का संक्षिप्त रूप 28 जनवरी 1984 को मंचित किया गया था। "इसमें उल्लू और तीन बन्दरों के प्रतीकों को नाटक में कई स्थानों पर अलग-अलग व्याख्यायित किया गया। आज मिलों और फैक्ट्रियों में उल्लू ही तो बनाये जा रहे हैं। डालड़ा में गाय और सूअर की चर्बी, अनेक वस्तुओं में मिलावट, नकली को असली करके बेचना, मजदूरों के श्रम का शोषण, यह सब उल्लू नीति का ही तो परिचायक है। उल्लू बनाकर ही तो जनता के साथ बेईमानी की जा रही है, पूरे देश में उल्लू का ही तो नाच हो रहा है और जनता गाँधी के तीन बन्दरों की तरह अपने कान, आँख, मुँह बंद किये हुए है। आज जिस तरह गांधी के आदर्शों का गलत उपयोग किया जाता है उसी प्रकार उनके बन्दरों को भी उलट कर अनुकरण किया जा रहा है। यदि पूरा नाटक मंचित किया जाता तो ये प्रतीक और कई आयाम खोलते । 'लड़ाई जारी है' नाटक वातावरण प्रधान है। आज के वातावरण का अहसास कराकर दर्शक को दिशा-दृष्टि देना ही इस नाटक का लक्ष्य रहा है।"[46]

इन दशकों में नाटककारों ने सामायिक सन्दर्भों को आकर्षक ढंग से रूपायित करने के लिये जहाँ नवीन रंगशिल्प को अपनाया है वहीं सफल सम्प्रेषण के लिये लोकधर्मी रंगान्वेषण भी किया है। कथ्य को सहज सुलभ बनाने के लिये आलोच्य नाटकों में नाटककार द्वारा क्रमशः प्रतीक ग्रहण की अलग-अलग सहज प्रक्रिया अपनायी गई है। लोकधर्मी प्रतीकों और सांकेतिक सूत्रों ने इन दशकों के नाटकों को एक महत्वपूर्ण आयाम दिया है।

इन दशकों के महत्वपूर्ण नाटकों में जो रंगमंच को हिन्दी के क्षेत्र में एक ऊँचा आयाम देनेवाले सिद्ध हुए उनमें - डॉ. जितेन्द्र सहाय का 'निन्यानवे का फेर', सुशीलकुमार सिंह का 'अलख आजादी की', 'दिल्ली ऊँचा सुनती है', 'पुरूष', 'तीन पत्तियाँ', 'लड़ाई जारी है' प्रमुख हैं।

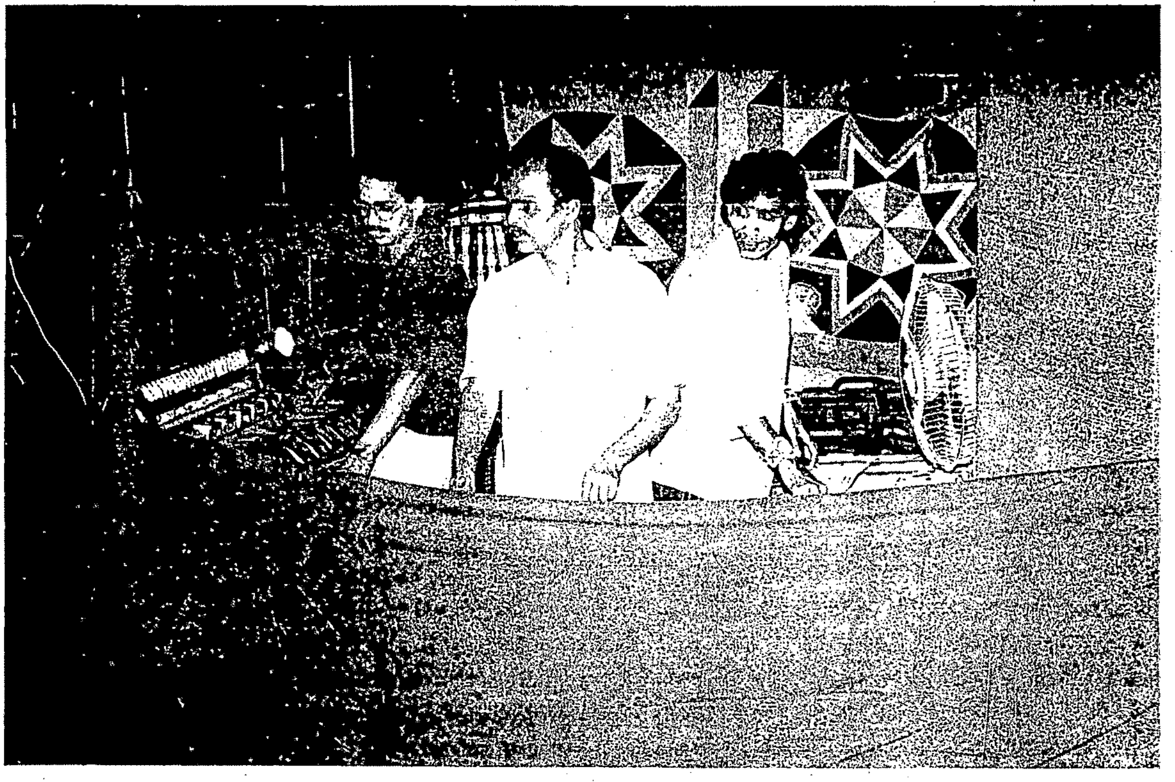

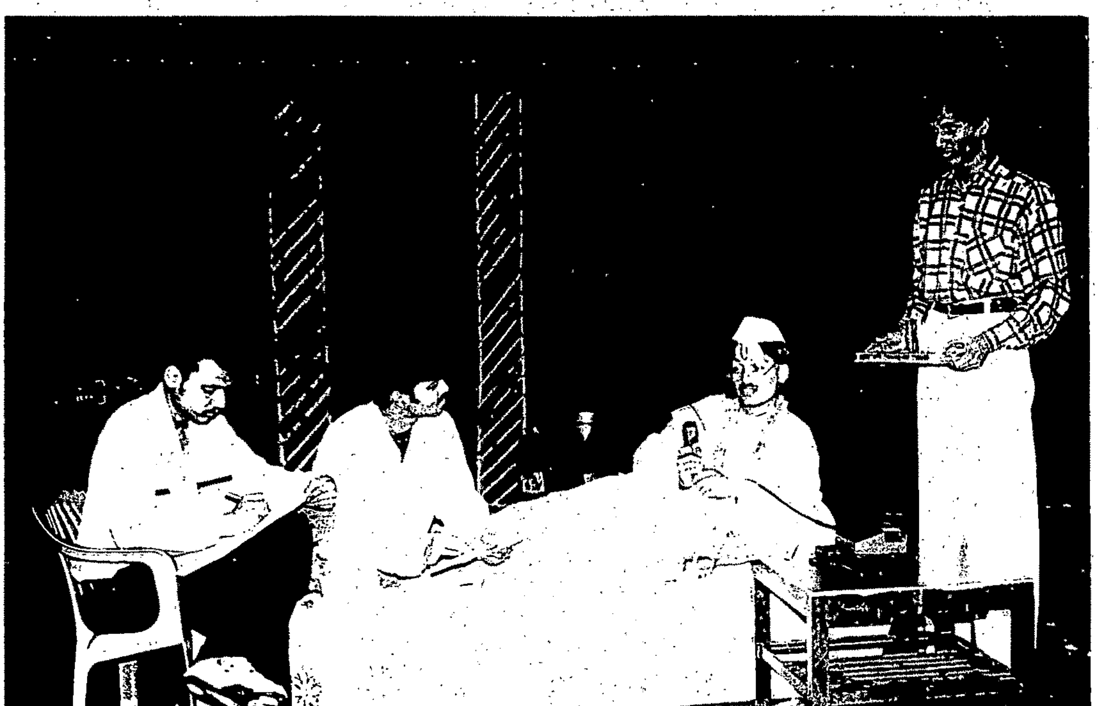

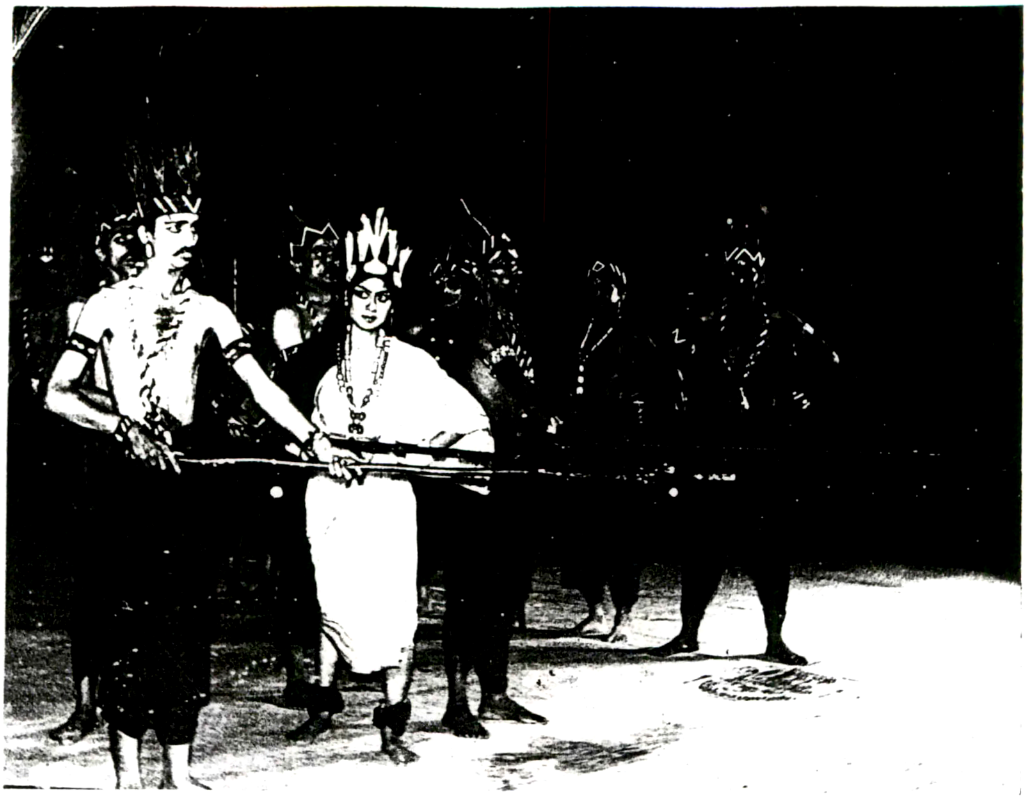

संदर्भ सूचि

1.	मोहन राकेश रंगशिल्पी - आषाढ़ का एक दिन	पृ. 30
2.	समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच : भूमिका - जयदेव तनेजा	
3.	नाट्य विमर्श - नरनारायण राय	पृ. 25
4.	समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच : भूमिका - जयदेव तनेजा	
5.	रजत रश्मि - रामकुमार वर्मा	पृ. 63
6.	हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा - जयदेव तनेजा	पृ. 208
7.	वही	पृ. 29
8.	वही	पृ. 326
9.	हिन्दी नाटकः सिद्धांत और इतिहास - डॉ. सिद्धांत कुमार	पृ. 91-92
10.	धर्मवीर भारती - अन्धा युग	
11.	वही	
12.	समकालीन हिन्दी नाटककार - गिरीश रस्तोगी	पृ. 46
13.	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी रंगमंच - डॉ. ओमप्रकाश शर्मा	पृ. 264-265
14.	नटरंग - संपा. नेमिचन्द्र जैन (अंक 38-39)	पृ. 53
15.	लहरों के राजहंस - मोहन राकेश	पृ. 50
16.	साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - मोहन राकेश	पृ. 87
17.	समकालीन हिन्दी नाटक - जयदेव तनेजा	पृ. 16
18.	हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा - जयदेव तनेजा	पृ. 28
19.	समकालीन हिन्दी नाटक - जयदेव तनेजा	पृ. 19
20.	वही	पृ. 18
21.	बीसवीं शती हिन्दी रंगमंच के विकास की दिशायें - शशिप्रभा अत्री	पृ. 91
22.	समकालीन हिन्दी रंगमंच - जयदेव तनेजा	पृ. 137
23.	आधे अधूरे - मोहन राकेश - निर्देशक का वक्तव्य	पृ. 7
24.	त्रिशंकु - बृजमोहन शाह	पृ. 25
25.	वही	पृ. 29
26.	रंगशिल्पी मोहन राकेश - नरनारायण राय	पृ. 26
27.	लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच- डॉ. दयाशंकर शुक्ल	पृ. 109
28.	बकरी - सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	पृ. 47
29.	वही - लेखक का वक्तव्य	
30.	समकालीन हिन्दी रंगमंच - जयदेव तनेजा	पृ. 17
31.	दिनमान - 28 जुलाई 1974	पृ. 43
32.	नटरंग - नेमिचंद्र जैन (अंक 38-39)	पृ. 75
33.	घासीराम कोतवाल - विजय तेंदुलकर - लेखक का वृत्तांत	
34.	नाटककार डॉ. चन्द्र - संपा. डॉ. केदारनाथ सिंह	पृ. 72
35.	अन्धों का हाथी - शरद जोशी	पृ. 6
36.	वही	पृ. 29
37.	दो व्यंग्य नाटक - शरद जोशी - अपनी बात	पृ. 105

38. अन्धों का हाथी - शरद जोशी पृ. 24
39. दुलारीबाई - मणि मधुकर पृ. 9
40. वही पृ. 25
41. वही पृ. 21
42. समकालीन हिन्दी नाटककार - गिरीश रस्तोगी पृ. 179
43. दुलारी बाई - मणि मधुकर :वक्तव्य
44. युगधर्म, नागपुर (21 नवम्बर 1979)
45. दो व्यंग्य नाटक - शरद जोशी : अपनी बात पृ. 6
46. समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच - जयदेव तनेजा पृ. 42
47. छोटे सैयद बडे सैयद - सुरेन्द्र वर्मा - वक्तव्य
48. पीढ़ियों का प्रवाह - डॉ. बृजवल्लभ मिश्र : अपनी दृष्टि पृ. 3
49. एक दूनी एक - सुरेन्द्र वर्मा पृ. 16
50. डॉ. केदारनाथ सिंह की डॉ. चन्द्र से बातचीत (लोकस्वर 18 फरवरी, 1984) अंक से साभार
51. रावण लीला - डॉ. कुसुम कुमार पृ. 41
52. वही पृ. 17
53. वही पृ. 40
54. वही पृ. 67
55. वही पृ. 70
56. पोस्टर - डॉ. शंकर शेष पृ. 85
57. वही पृ. 159
58. वही पृ. 104
59. वही - भूमिका से